

शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा । ऊपरके कथंन से ये पाँचो अतीचार आ जाते है । इस गाथाकी विजयोदया टीकामे भी आशाधरजीके द्वारा कहे गये छह अनायतन गिनाये है । कांक्षा नामक अतीचारको स्पष्ट करते हुए विजयोदया टीकामे कहा है कि असंयत सम्यग्दृष्टि और दंशसंयमीको आहारदिकी कांक्षा होती है, प्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि और देशसंयमीको आहारादिकी कांक्षा होती है, प्रमत्त संयत मुनिको परीषहसे पीडित होनेपर खानपानकी कांक्षा होती है । इसी तरह भव्यो को सुखकी कांक्षा होती है किन्तु कांक्षा मात्र अतीचार नहीं है, दर्शनसे, व्रतसे, दानसे, देवपूजासे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुक्ते अच्छा कुल, रूप, धन, स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हो, इस प्रकार की कांक्षा सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥८४॥

आगे मिथ्यात्व नामक अनायतनके सेवनका निषेध करते है--

सम्यक्त्वगन्धकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरटसंधट्टम ।

कुर्वननेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता ॥८५॥

प्रतिपक्षः--मिथ्यात्वं शत्रुश्च । स्वपक्षः--आत्माभ्युपगतव्रतादिकं निजयूथं च ॥८५॥

अथ सम्यक्त्वप्रौढिमतो मदमिथ्यात्वावेशशडानिरस्यति--

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने ।

न मदान्धैऽपि मिथ्यात्वगन्धहस्ती चरिष्यति ॥८६॥

राजन्वति--दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनपरेण राज्ञा युक्ते परपराभ्वाविषये इत्यर्थः । मदः--जात्यादिअभिमानो दानं च ॥८६॥

अथ जात्यादिभिरात्मोत्कर्षसंभाविनः सधमाधिर्भवनमुखेन सम्यक्त्वमाहात्महानि दर्शयति--

संभावयन जातिकुलाभिरु प्यविभूतिधीशक्तितपोर्चनाभिः ।

स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणे वा कुर्वन प्रधर्ष प्रदुनोत दृष्टिम ॥८७॥

आभिरु प्यं--सौरु प्यम । धीः--शिल्पकलादिज्ञानम । अन्यस्य--जात्यादिना हीनस्य । प्रदुनोति--माहात्म्यादपकर्षति ॥८७॥

अथ जातिकुलमदयोः परिहारमाह--

जैसे अपने यूथका कल्याण चाहनेवाला यूथनाथ--हस्तीसमूहका स्वामी प्रधान हाथी अपने होनहार बाल हाथीको अपने प्रतिपक्षके प्रबल हाथीके साथ लडाई करते ही रोक देता है, उसी तरह अपने द्वारा

धारण किये गये व्रतादिका संरक्षण चाहनेवाले सम्यक्त्वके आराधक भव्यको प्रबल मिथ्यात्वके साथ संघर्ष होते ही अपने सम्यक्त्वकी रक्षा करनेमें तत्पर रहना चाहिए क्योंकि आगामी ज्ञान और चारित्रिकी पुष्टिमें सम्यक्त्व ही निमित्त होता है ॥८५॥

प्रौढ सम्यक्त्वके धारक सम्यग्दृष्टिके अभिमानरूपी मिथ्यात्वके आवशेकी शंकाको दूर करते हैं--

हे सुदृढ सम्यग्दृष्टि ! तू मत डर, क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी सिंहका जहाँ राज्य है उस मन रूपी वनमें मदान्ध (हाथीके पक्षमें मदसे अन्ध, मिथ्यात्वके पक्षमें मदसे अन्धा--हिताहितके विचारसे शून्य करनेवाला) मिथ्यात्वरूपी गन्धहस्ती विचरण नहीं कर सकेगा ॥८६॥

जाति आदिके मदसे अहंकाराविष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि साधर्मिके अपमानकी ओर अभिमुख होनेसे सम्यक्त्वके महात्म्यको हानि पहुँचाता है यह बतलाते हैं--

जाति, कुल, सुन्दरता, समृद्धि, ज्ञान, शक्ति, तप और पूजासे अपना उत्कर्ष माननेवाला--मैं उससे बड़ा हूँ ऐसा समझनेवाला अथवा अन्य साधर्मिका तिरस्कार करनेवाला सम्यक्त्वकी महत्को घटाता है ॥८७॥

विशेषार्थ--कहा भी है, जो अहंकारी अहंकारवश अन्य साधर्मियोंका अपमान करता है वह अपने धर्मका अपमान करता है क्योंकि धर्मिकोके विना धर्म नहीं रहता ॥८७॥

जातिमद और कुलमदको त्यागनेका उपदेश देते हैं--

पुसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलडकैः कलौ,

सददृग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरु प्यशौर्यादिभिः ।

स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्यैवत-

स्तज्जात्या च कुलेन वोपरि मृषा पश्यन्नधः स्वं क्षिपेः ॥८८॥

आकुलयति--दूषयति सति । वदान्यता--दानशैण्डत्वम् । वसु--धनम् । कलाः--गीतादयः । शौर्यादि--आदिशब्दान्नय-विनय-गाम्भीर्याद । अभिजने--अन्वये । जात्या--मातृपक्षेण । कुलेन--पितृपक्षेण । उपरि--प्रक्रमात् सधर्माणाम् । साधर्मिकापमानमेव हि सम्यक्त्वस्यातिचारः । तदुक्तम्--

धर्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान गर्विताशयः ।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धर्मिकैर्विना^१ [रत्न. श्राव. २६]

मृषा--जातिकुलयोः परमार्थमः शुद्धेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । नु--किम् । अधः--सम्यक्त्वविराधनायां ही(-न) पदस्य सुधटत्वात् । तथा चोक्तम्--

धजातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलैः ।

कुर्वाणोऽहंकृति नीचं गोत्रं बध्नाति मानवः ॥८९॥ [] ॥८८॥

अथ सौरु प्यमदाविष्टस्य दोषं दर्शयति--

हे जाती और कुलसे अपनेको ऊँचा माननेवाले ! पूर्व पुण्यके उदयसे यदि तू सम्यक्त्व, सदाचार, दानवीरता, धन, कला, सौन्दर्य, वीरता आदि गुणोंसे प्रसिद्ध स्त्री-पुरु षोके द्वारा जनताके मनमें चमत्कार करनेवाले कुलमें पैदा हुआ है तो इस कलि कालमें तो स्त्रियोकी तो बात ही क्या, पुरु षोका भी मनोबल प्रायः अपवादोंसे गिर जाता है । इसलिए जाति और कुलके मिथ्या अभिमानसे तू अन्य साधर्मियोंसे ऊपर मानकर अपनेको नीचे क्यों गिराता है ॥८८॥

विशेषार्थ--आगममें जाति आदिके मदको बहुत बुरा बतलाया है । कहा है--

घजाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है ।

इसके सिवाय इस कलिकालमें जाति और कुलकी उच्चताका अभिमान इसलिए भी व्यर्थ है कि कुल नारीमूलक है । और कलिकालमें कामदेवका साम्राज्य रहता है । कब कहों किसका मन विकृत होकर शीलको दूषित कर दे इसका कोई ठिकाना नहीं है अतः जाति--कुलका अभिमान व्यर्थ है । कहा भी है--

घसंसार अनादि है, कामदेवीकी गति दुर्निवार है और कुलका मूल नारी है ऐसी स्थितिमें जातिकी कल्पना ही बेकार है ॥८८॥

सौन्दर्यका मद करनेवाले सम्यग्दृष्टिका दोष बतलाते हैं--

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे

कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना

यानारोप्य प्रकृतिसुभगानङ्कःनायाः पुमांसं,

पुंसश्चास्यादिषु कविठका मोहयन्त्यङ्गनां द्राक्।

तानिन्द्रादीन् परमसहन्नुदिष्णुन्वपुस्ते,

स्त्रष्टाऽस्त्राक्षीद् ध्रुवमनुपमं त्वां विश्वं विजिष्णुम् ॥ ८९ ॥

आरोप्य--कल्पयित्वा । आस्यादिषु--मुखनयनादिषुमेयेषु । इन्द्रादीन्--चन्द्रकमलादीनुपमानभूतान । उन्मदिष्णुन--स्वोत्कर्षसंभाविनः । अनुपमं--मुखादिषु चन्द्राद्युपमामतीतं प्रत्युत चन्द्रदीनप्युपमेयान् कर्तुं सृष्टवानिति भावः । त्वामित्यादि--सम्यक्त्वलेन समस्तजगद्विजंय साधु कुर्वाणमसहमानी विधाता तव शरीरमनन्योषर्षं व्यवादित्यहं संभावयामि । इयमत्र भावना भवान् सम्यक्त्वमाहात्म्याद् दिश्वं व्यजेण्यत् यदि हतविधिस्तादृक् सौरुप्यमुत्पाद्य तन्मदेन मभ्यक्त्वं नामलिनयिष्यत् ॥ ८९ ॥

अथ लक्ष्मीमदं निषेद्धु वक्रभणित्या नियुङ्क्ते--

या देवैकनिब्रन्धना सहभुवां याऽऽपद्वियामामिषं,

या विस्त्रम्भजत्रमस्यति यथासत्रं सुभक्तेध्वपि ।

या दोषेध्वपि तन्वपी गुणधियं युक्तेऽनुरक्त्या जनानू,

ये किवरुपी ठग जिन स्वभासे ही सुन्दर चन्द्रमा, कमल आदि उपमानभूत पदार्थोंको नारीके मुख नयन आदि उपमेय भूत अंगोंमें आरोपित करके तत्काल पुरुषको मोहित करते हैं, और पुस्तके अंगोंमें आरोपित करके नारीको तत्काल मोहित करते हैं । मैं ऐसा मानता हूँ कि निश्चल ही उन्मादकी ओर जानेवाले उन चन्द्र आदि को न केवल सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारे अनुपम शरीरको रचा है किन्तु सम्यक्तत्व के बलसे समस्त जगत्को विजय करनेवाले तुमको सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारा अनुपम शरीर रचा है ॥ ८९ ॥

विशेषार्थ--लोकोत्तर वर्णन करनेमें निपूर्ण कविगण अपने काव्योंमें स्त्रीके मुखको चन्द्रमाकी, नेत्रोंकी कमलकी उपमा देकर पुरुषको स्त्रियोंकी ओर आकृष्ट करते हैं और पुरुषके अंगोंको उपमा देकर स्त्रीको पुरुषको ओर आकृष्ट करते हैं । इसलिए कवियोंको ठग कहा है, क्योंकि वे पुरुषार्थ का घात करते हैं । इसके साथ ही ग्रन्थकाराने यह संभावना व्यक्त की है कि ब्रह्माने इन चन्द्रमा आदिके अहंकारको केवल सहन न करके ही पुरुषके अंगोंको उनसे भी सुन्दर बनाया है, बल्कि उसने सोचा कि यह सम्यन्दृष्टि अपने सम्यक्तत्वके माहात्म्यसे विश्वको जीत लेगा इसलिए उसने तुम्हारा शरीर इतना सुन्दर बनाया कि तुम अपनी सुन्दरताके मदसे अपने सम्यक्तत्वको झूषित कर लो । जिससे तूम जगतको न जीत सको ॥ ८९ ॥

वक्रोक्तिकेद्वारा लक्ष्मीका मद त्यागनेकी प्रेरणा करते हैं--

जो लक्ष्मी एकमात्र पुराकृत शुभकर्मसे प्राप्त होती है, जो लक्ष्मी एक साथ आनेवाली विपत्तियों और भतियोंका स्थान है, जो लक्ष्मी अपने अत्यन्त भक्त निकट सम्बन्धी पूत्र भाई आदिमें भी निरन्तर विश्वासको घटाती है, जो लक्ष्मी दोषोंमें भी गुणोंकी कल्पना कराकर लोगोंको अनुरागी बनाती है, हे भाई, युक्त-अयुक्त विचारसे विकल होनेके कारण ऐसी लक्ष्मी तुम्हें छोड़कर अन्य पुरुषके पास जाये इससे पहले ही तू अपनेको उक्त लक्ष्मीसे बड़ा मान ॥ ९० ॥

आमिषं--ग्रासो विषसो वा । तथा चोक्तम्--

वहयपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् ।

यत्र पुत्राः ससोदर्याः वैरायत्ने निरन्तरम् ॥ []

दोषेषु--ब्रह्मत्यादिषु । अनुरक्तया । ब्रह्मधनोऽपि धनी धनलोभाद् वृद्धैरप्यारीयते । तदुक्तम्--

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च बृद्धा बहुश्रुताः ।

सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः ॥ []

स्वभ्यस्व--आत्मानमुत्कृष्ट संभावय त्वम् । अन्न--हे भ्रातः । आस्वित्यादि--अयमर्थः--क्षणिक तया पुरुषान्तरं गच्छन्त्या लक्ष्म्या यदि सद्योऽन्धत्वान्न प्रच्चाव्यसे अन्यथा पुरुषान्तरं मम लक्ष्मीरेषा गच्छतीति दुःखदुःख प्राप्नोषि न चैवं सर्वस्यापि प्रायेण लक्ष्मीसमागमे पश्यतोऽयदर्शनस्य तद्विगमे च दर्शनस्योपलम्भात् ।

यल्लोकोक्तिः--

संपय पडलहि लोयणइं बंभजि छाइज्जंति ।

ते दालिदसलाइयइं अंजिय णिम्मल होंति ॥ [] ॥ ९० ॥

अथ शिल्पादिज्ञानिनां महावेशमनुषोचति--

शिल्पं वै मदुपक्रमं जडधियोऽप्याशु प्रसादेन मे,

विश्वं शासति लोकवेदसमयाचारेष्वहं दृष्टुं नृणाम् ।,

राज्ञां कोऽमिवावधानकुतुकामोदैः सदस्यां मनः,

कर्षत्येवमहो महोऽपि भवपि प्रायोऽद्य पुसां तमः ॥ ९१ ॥

विशेषार्थ--लक्ष्मीकी प्राप्तिमें पौरुषसे अधिक दैवकएि हाँथ होता है फिर लक्ष्मी पाकर मनुष्य आपत्तियोंका शिकार बन जाता है । कहा है--

यह राज्य बहुत-सी बुराइयोंसे भरा है, यह मनस्वी पुरुषोके छोड़ देने योग्य है । जिसमें सहोदर भाई और पुत्र सदा बैरीकी तरह व्यवहार करते हैं । लक्ष्मी पाकर मनुष्य अपने निकट बन्धुओंका भी विश्वास नहीं करता । लक्ष्मीके लोभसे धनवानके दोष भी गुण कहलाते हैं । कहा भी है--जो अवस्थामें बड़े हैं, तपमें बड़े जो बहुश्रुत हैं वे सब लक्ष्मीमें बड़े पुरुषकेद्वार पर आज्ञाकारी सेवककी तरह खड़े रहते हैं ।

ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करनेवालेको ग्रन्थकार उपदेश देते हैं कि लक्ष्मीसे अपनेको बड़ा मान, लक्ष्मीको बड़ा मत मान क्योंकि लक्ष्मी तो चंचल है । यह एक पुरुष के पास सदा नहीं रहती क्योंकि इसे पाकर मनुष्य अन्धा हो जाता है, उसे हिताहितका विचार नहीं रहता । अतः जब लक्ष्मी उसे छोड़कर दूसरेके पास जाती है तो मनुष्य बहुत दुःखी होता है । प्रायः धन पानेपर मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता और उसके जाने पर उसकी आँखे खुलती है । एक लोकोक्ति है--विधि सम्पत्तिरूपी पटलसे मनुष्योके जिन नेत्रोको ढाँक देता है वे दारिद्ररूपी शलाकासे अंजन आँजनेपर निर्मल हो जाते हैं--पुनः खुल जाते हैं ॥ ९० ॥

शिल्प आदि कलाके ज्ञाताओंके महावेशपर दुःख प्रकट करते हैं--

अमुक हस्तकलाका आविष्कार मैंने ही किया था, उसे देखकर ही दूसरोंने उसकी नकल की है । मन्दबुद्धि लोक भी मेरे अनुग्रहसे शीघ्र ही चराचर जगतका स्वरूप दूसरोंको बतलाने लगते हैं अर्थात् लोककी स्थितीविषयक ज्ञान करानेमें मैं ही गुरु हूँ । लोक, वेद और नाना मतों के आचारोंके विषयमें मनुष्योंको नेत्र हूँ, अर्थात् वह लोक आदिकएि आचार स्पष्ट रूपसे दिखलानेमें मैं ही प्रवीण हूँ । राजसभामें अवधानरूप कौतुकोंके आनन्दकेद्वारा

शिल्पं--पत्रच्छेदादि करकौशलम् । मदुपकम--मया प्रथमारब्धम् । अवधानानि--यशुगपत्पाठगीत नृत्यादिविषयावधारणानि । यल्लोके-

व्यावृत्तं प्रकृतं वियद् विलिखितं पृष्ठर्पितं व्याकृतं

मात्राशेषममात्रमडशवलं तत्सर्वतो भद्रवत् ।

यः शक्तो यगुपद् ग्रहीतुमखिलं काव्ये च संचारयन्

वाचं सुक्तिसहस्रत्रभडिसुभगां गृहयातु पत्रं स मे ॥ []

महः--शिल्पादिज्ञानशख्यतेजः ॥ ९१ ॥

अथ कुलीनस्य बलमददुर्लक्षंती लक्षयति--

शाकिनया हरिमाययाभिचरितान् पार्थः किलास्थदृढषो,
वीरोदाहरणं वरं स न पूना रामः स्वयं कूटकृत् ।

इत्यास्थानकथाप्रसंगलहरीहेलाभिरुत्प्लवितो,

हत्त्रेडाल्लयमेति दोःपरिमलः कस्यापि जिहयाखले ॥ ९२ ॥

अभिचारितान्--उपतप्तान् । आस्थत--निराकृतवान् । द्विष--कौरवान् । वीरोदाहरण--अर्जुनेन
सदुखा हमे वीरा इत्यस्तु । कूटकृतबालिवर्धादिप्रस्तावे कयाप्रसङ्गः : वार्ता । लयं--अलक्ष्यत्वम् ।
दोःपरिमलः--लक्षणा भुजवीर्यम् । कुर्यापि कुलीनस्य पुंस ॥ ९२ ॥

अथ तपोमदस्य दुर्जयत्वं व्यनक्ति--

कर्मारिक्षयकारण तप इति ज्ञात्वा तपस्तप्यते,

कोऽयेतर्हि यदीह तर्हि विधयाकांक्षा पुरो धावति।

अपयेकं दिनमीदशस्य तपसो जानीत यस्तत्पद--

द्वनद्वं मूर्ध्नि वहेयमित्यपि दृश मथननाति मोहासूरः ॥ ९३ ॥

तपयते--अर्जयति । एतर्हि--एतस्मिन् काले । इह--अस्मिन् क्षेत्रे । ईदृशस्य--मया निरीहतया
विधीयमानेन तपसा सदृशस्य । जानीत--ईदृशं तपश्चरितुं प्रवर्तत इत्यर्थः । ज्ञाः स्वार्थं करण इति पष्ठी ।
वहेयं--वोडक्यं मया इत्यर्थः ॥ ९३ ॥

राजाओं के मनको दूसरा कौन व्यक्ति मेरे समान आकृष्ट कर सकता है, खेद है कि इस प्रकार आज प्रायः
पुरुषोका शिल्प आदिका ज्ञानरूप तेज भी अनधकाररूप हो रहा है ॥ ९१ ॥

आगे कहते हैं कि कुलीन पुरुष बल का मद नहीं करता --

ऐसा मुना जाता है कि शाकिनीके समान विष्णुकी मायासे मोहित हुए कौरव-शत्रुओं को अर्जुनने
मारा । अतः वीरोंके उदाहरणके रूपमें अर्जुन ही श्रेष्ठ है, रामच्छ्र नहीं, क्योंकि उन्होंने बालिके वध में
छलसे काम लिया था । इस प्रकार जनसमुदाय में जब कभी उछनेवाले कथा प्रसंगरूपी लहरोंसे
अनतस्तलसे ऊपर उठा वीरोंकी बाहुओंका सौरभ किसी भी कुलीनकी जिहया के अग्र भागमें कआकर
विलीन हो जाता है अर्थात् वह अपने मुखसे अपनी वीरताका गुणगान नहीं करता । और दूसरोंके मुखसे
सुनकर भी उधर कान नहीं देता ॥ ९२ ॥

तप का मद दुर्जय है यह स्पष्ट करते हैं--

इस क्षेत्र और इस कालमें यदि कोई तप मोह आदि शत्रुओंके विनाश का कारण है वह जानकर
भी तप करता है तो विषयोंकी चाह आगे दौड़ती है । मेरे समान निरीह होकर किये जानेवाले तपके समान
तप यदि कोई एक दिन भी कर सकेतो मैं उसकेदोनों चरण

अथ पूजामदकर्तुदोष दर्शयति--

स्वे वर्गे सकले प्रमाणमहमित्येतत्कियद्यावता,

पौरा जानपदाश्र सन्त्यपि मम श्रासेन सर्वे सदा ।

यत्र काप्युत यामि तत्र सपुरस्कारां लभे सक्रिया--

मित्यर्चामदमूर्णनाभवदघस्तन्तु वितन्वन् पतेत् ॥ ९४ ॥

यावता--येयन कारणेन । ध्वसन्ति--मदेकायत्तास्तिष्ठन्तीत्यर्थः । ऊर्णनाशभवत्--कौलिको यथा ।

तन्तु--लालास्वरूपम् ॥ ९४ ॥

अथैवं प्रसङ्गायातैः साधर्मिकान् प्रति जात्यादिसर्दः सह मिथ्याक्वाख्यमनायत्तनं त्यारज्यतया

प्रकाश्य साम्प्रतं तद्, : सप्त त्यात्जतया प्रकाशयति--

सम्यक्तवादिषु सिद्धिसाधनतया त्रिध्वेव सिद्धेषु ये,

रोचन्ते न तथैकशस्त्रय इमे ये च द्विशस्ते त्रयः ।

सश्व त्रीणयपि सोऽप्यमी शुभदृशा सप्मापि मिथ्यादृश--

स्त्याज्या खण्डयितु प्रचण्डसतयः सदृदिष्टसम्राटपदम् ॥ ९५ ॥

त्रिध्वेव--समुदितेषु न व्यस्त्येयु । सिद्धेषु--आगमे निर्णीतेषु । तथा--सिद्धिसाधनताप्रकारेण । एकशः-

-एकैकं कर्ततापन्नम् । तषाहि--कश्चित् सम्यक्त्वज्ञाने मोक्षमार्ग भन्यते न चारित्र्य, अन्यः सभ्यकत्वचरित्रे न

ज्ञानम्, अन्यतरो ज्ञानचारित्रे न सम्यक्त्वमेवमुतरत्रापि चिन्त्यम् । द्विशः--द्वे द्वे सिद्धिसाधनतया न रोचन्ते ।

मिथ्यादृशः । उक्तं च--

अपने मस्तकपर धारण करूँ, इस प्रकार मोहरूपी दैत्य न केवल चारित्रको किन्तु सम्यरदशनको भी नष्ट-
भ्रष्ट कर देता है । अर्थात् तपस्वी भी तप का मद करके भ्रष्ट होते हैं ॥ ९३ ॥

पूजाका मद करनेवाले दोष दिखलाते हैं--

मैं अपने समस्त सजातीय समूहमें प्रमाण माना जाता हूँ, इतना ही नहीं, किन्तु सब नगरवासवी
और देशवासी सदा मेरे श्वासके साथ लेते हैं, उनका जीवन मेरे अधीन है, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ वहाँ
पुरस्कारपूर्वक सत्कार पाता है इस प्रकारका पूजाका मद भकड़ीके समान जाल फैलाता हुआ अधःपतन
करता है ॥ ९४ ॥

इस प्रकार साधर्मियोके प्रति प्रसंग प्राप्त जाति आदि आठ मदों के साथ मिथ्यात्व नामक
अनायतनको त्यागने योग्य बतलाकर आगे सात प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंको त्याज्य बतलाते हैं--

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण हैं यह आगमसे निर्णीत है ।
इनमें-से जो एक-एकको मोक्षका कारण नहीं मानते ऐसे जो दो दो को मोक्षका कारण नहीं मानते ऐसे
तीन और जो तीनोंको कही मोक्षका कारण नहीं मानता ऐसा एक इस तरह सम्यग्दर्शनरूपी चक्रवर्ती
पदका खण्डन करनेके लिए उसके प्रभाव और स्वरूप को दूषित करनेके लिए यश् सातों ही मिथ्यादृष्टि
बडे दक्ष होते है । सम्यग्दृष्टिको इनसे दूर ही रहना चाहिए ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र यह तीनों ही मोक्षके कारण हैं । जो इनमें-
से एकको या दोको या तीनोंको ही स्वीकार नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं । इस तरह मिथ्यादृष्टिके सात

भेद हो जाते हैं--सम्यग्दर्शनको न माननेवाला एक, सभ्यगज्ञानको न माननेवाला दो, सम्यक् चारित्रिकको न माननेवाला तीन, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानको न

एकैकं न त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रयः ।

एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥ [अमि. श्रा. २/२६] ॥ ९५ ॥

अथापरैरपि मिथ्यादृष्टिभिः सह संसर्ग प्रतिषेधति--

मुद्रां सांव्यवहारिकी त्रिजगतोवन्द्यामपोद्यार्हती,

वामा केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः ।

लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,

म्लेच्छनतीह तर्कस्त्रिया परिचयं पुं देहमृहैस्त्यज ॥ ९६ ॥

मुद्रा--आचेलवयादिलिङ्गं टंकादिनाणकाकृति च । सांव्यवहारिकी--समीचीप्रवृत्तिप्रयाजनाम् ।

अपोद्य--अपावादविषयां कृत्वा निषिद्धय इत्यर्थः । वामां--तद्विपरीतां । किचित्--तापसादयः । अहंयदः--

अहङ्करिणः । अन्ये--द्रव्यजिनलिङ्गमूलधारिणः । तच्छायया--अर्हद्गतप्रतिरूपवेग । अपरे--

द्रव्यजिनलिङ्गधारिणः । म्लेच्छन्ति--म्लेकच्छ इवाचरन्ति । तर्क-- कु त्सितैरतैः । त्रिा परिचयं--

मनसानमोदनं वाचा कीर्तनं कायेन संसर्ग च । तद्वक्तम्--

माननेवाला चार, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रिकको न माननेवाला पाँच सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रिकको न माननेवाला छह तथा तीनोंको ही न माननेवाला सात । कहा भी है--

जिन्हे तीनोंमे-से एक-एक नहीं रुचता ऐसे तीन, जिन्हे, दो-दो नहीं रुचते ऐसे तीन और जिन्हे तीनों भी नहीं रुचते ऐसा एक, इस तरह ये सातों भी मिथ्यादृष्टि है ।

ये सम्यग्दर्शनके प्रभाव और स्वरूपको इति पहुँचानेमें तत्पर रहते हैं । अतः सम्यग्दृष्टि को इनसे दूर रहना चाहिए ॥ ९५ ॥

अन्य मिथ्यादृष्टियोंके भी साथ सम्बन्ध रखनेका निषेध करते हैं--

दिगम्बरत्वरूप जैनी मुद्रा तीनों लोकोंमें वन्दनीय है, समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारके लिए प्रयोजनीयभूत है । किन्तु इस क्षेत्रमें वर्तमान कालमें उस मुद्रा को छोड़कर कुछ अहंकारी तो उससे विपरीत मुद्रा धारण करते हैं -- जटा धारण करते हैं, शरीरमें भम्म रमाते हैं । अन्य द्रव्य जिनलिंगके धारी अपनेको मुनी माननेवाले अजितेन्द्रिय होकर उस जैन मुद्राको केवल शरीरमें धारण करके धर्म के इच्छुक लोगोंपर भूतही तरह सवार होते हैं । अन्य द्रव्यलिंगके धारी मठाधीश भट्टारक हैं जो जिनलिंगका वेष धारण करके म्लेच्छोंके समान आचारण करते हैं । ये तीनों पुरुषके रूपमें साक्षात् मिथ्यात्व है । इन तीनोंका मनसे अनुमोदन मत करो, वचनसे गुणगान मत करो और शरीरसे संसर्ग मत करो । इस तरह मन-वचन-कायसे इनका परित्याग करो ॥ ९६ ॥

विशेषार्थ--इस श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने अपने समयके तीन प्रकारके मिथ्यादृष्टि साधुओंका चित्रण करके सम्यग्दृष्टि उनसे सर्वथा दूर रहनेकी प्रेरणा की है । इनमें से प्रथम तो अन्य मतानुयायी साधु हैं । जो बाहरसे दिगम्बर जैन मुनिका रूप धारण किये होते हैं--नग्न रहते हैं, केश लोंच करते हैं ।

किन्तु अन्तरंगमें सच्चे मुनि नहीं होते । इन दो में से अन्तिम मठाधीश भट्टारक होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्यने जैनों और बौद्धोंके विरुद्ध जो अभियान चलाया था और दण्डी साधुओंकी सृष्टि करके धर्मके संरक्षणके लिए भारतमें मठोंकी स्थापना की थी उसीके अनुकरणपर जैनोंमें भी साधुओंमें अनवास छोड़कर मन्दिरोंमें रहना शुरु किया और मन्दिरोंके लिए दानादि स्वीकार करके धर्मकी रक्षाका

कापथे पथी दुःखानां कापथेऽयसम्मपिः ।

असंपृक्तिरनुत्कीर्तिर मूढा दृष्टिरुच्यते ॥ [रत्न. श्रा. १४] ॥ ९६ ॥

अथ मिथ्याज्ञानिभिः संपर्कव्यपोहति--

विद्वानविद्याशाकिन्याः कूरं रोद्धुमुपप्लयम् ।

निरुन्ध्यादपराध्यन्ती प्रज्ञां सर्वत्र सर्वदा ॥ ९७ ॥

कुहेतुनदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः ।

आचार्यव्यञ्जनैः सद्भिः भुजउर्जातू व्रजेत् ॥ ९८ ॥

व्यज्जनं--विषः । उक्तं च--

शाक्यनास्तिकयागज्जटिकालीवकादिभिः ।

सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥

अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।

युद्धमेव भवेद् गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥ [सोम. उपा. ८०४-८०५ श्लो.]

कार्य करने लगे वे भट्टारक कहलाये । ग्रन्थकारने लिखा है कि वे भले-छोके समान आचरण करते हैं इससे ज्ञात होता है कि उनका आचरण बहुत गिर गया था । उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है - जिसमें कहा है--

चरित्रभ्रष्ट पण्डितोंने और बनावटी तपस्वियोंने जिनचन्द्रने निर्मल शायसनकी मलिन कर दिया ।

सम्यग्दृष्टिको ऐसे वेषी जैन साधुओंसे भी मन-वचन-काय-से दूर रहने की प्रेरणा की है क्योंकि ऐसा न करनेसे सम्यग्दर्शनके अमूढदृष्टि नामक अंगको क्षति पहुँचती है । उसका स्वरूप इस प्रकार है--

दुःखोंके मार्ग-कुमार्गकी और कृमार्गमें चलनेवालीकी मनसे सराहना न करना, कायसे संसर्ग न रखना और वचनसे प्रशंसा न करना अमूढदृष्टि अंग कहा जाता है ।

दूसरे मतवालोंने भी ऐसे साधुओंसे दूर रहनेकी प्रेरणा की है--

खोटे कर्म करनेवाले, बिलाबके समान व्रत धारण करनेवाले, ठग, बगुला भगत तथा किसी हेतुसे साधु वननेवाले साधुओंका वचन मात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिए ।

मिथ्याज्ञान, नामक अनायतनको छुड़ाते हैं--

त्रिकालवर्ती विषयोंके अर्थको जाननेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं । उसका काम है कि वह अविद्यारूपी पिशाचिनीके कूर उपद्रवको सर्वत्र सर्वदा रोके अर्थात् ज्ञानशका पचार करे । यदि वह ऐसा न करे और विसूढ़ हो जाये तो विद्वानको उसका निवारण करना चाहिए ॥ ९७ ॥

मिथ्याज्ञानियोंसे सम्पर्कका निषेध करते हैं--

खोटे हेतु नय और दृष्टान्तरूपी विषको उगलनेके कारण भयानक आचार्य देशधारी सर्पो या दृष्टोंके साथ कभी भी नहीं रहना चाहिए अर्थात् खोटी युक्तीयो, खोटे नयों और खोटे दृष्टान्तोंके द्वारा मिथ्या पक्षको सिद्ध करनेवाले गुरुओसे भी दूर रहना चाहिए ॥ ९८ ॥

भूयोऽपि भद्रः यन्तरेणाह--

भारयित्वा पटीयांसमप्यज्ञानविषेण थे ।

विचेष्टयन्ति संचक्ष्यास्ते क्षुद्रा क्षुद्रमन्त्रिवत् ॥ ९९ ॥

भारयित्वा--विकलीकृत्य । पटीयासं--तत्ववेत्तारमदृष्टपूर्व च । विचेष्टयन्ति--विरुद्धं वर्तयन्ति ।

संचक्ष्या--वर्जनीयाः । क्षुद्राः--मिथ्योपदेष्टारो दुर्जनाः । क्षुद्रमन्त्रिवत् --दृष्टगारुडिका यथा ॥ ९९ ॥

अथ मिथ्याचारित्राख्यमनायतनं प्रतिक्षिपति--

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा व हनदात्मवत् परम् ।

ध्रुव हि प्राग्वघेऽनन्तं दुःख भाज्यसुदग्धे ॥ १०० ॥

प्राग्वघे--रागद्वेषादिभिरात्मनः परस्य च धाते । भाज्यं--विकल्पनीयम् । उदग्वघे--विषशस्त्रादिभिः

स्वपरयोर्धाते । अयमभिग्रायः विषादिभिर्हन्यमातोऽपि यदि यडनमस्कारमनाः स्यात्तदा नानन्तदुःख

भागभवति अन्यथा भवम्येवेति ॥ १०० ॥

पुनः प्रकारान्तरसे उसी बातको कहते हैं--

जैसे सर्पके विषको दूर करनेका ढोंग उचनेवाले दुष्ट मान्त्रिक जिसे साँपने नहीं काटा है ऐसे व्यक्तिको भी विषसे मोहित करके कुचेष्टाएँ कराते हैं, उसी तरह मिथ्या उपदेश देनेवाले दुष्ट पुरुष तत्वोंके जानकारको भी मिथ्याज्ञानसे विसूद्ध करके उनसे विरुद्ध व्यवहार कराते हैं । अतः सम्यक्त्वके आराधकोको उनसे दूर रहना चाहिए ॥ ९९ ॥

विशेषार्थ--आचार्य सोमदेवने भी कहा है--बौद्ध, नोस्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी सेवा वगैरह नहीं करना चाहिए । तत्वोंसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योंके साथ वार्तालाप करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और झोंटाझोटी तक की नौबत आ जाती है ॥ ९९ ॥

आगे मिथ्याचरित्र नामक अनायतनका निषेध करते हैं--

मिथ्याचारित्र नामक अनायतनको त्यागनेके इच्छुक सम्यग्दृष्टिको मोहोदयजन्य रागादि विकारोंसे तथा विष, शस्त्र, जल, अग्निप्रवेश आदिसे अपना और दूसरोंका घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि रागादिसे घात करनेमें तो निश्चय ही अनन्त दुख मिलता है किन्तु विषादिसे घात करनेपर अनन्त दुःख हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता ॥ १०० ॥

विशेषार्थ--तात्पर्य यह है कि रागादिरूप परिणामिके द्वारा अपने या दूसरोंके विशुद्ध परिणामस्वरूप साम्यभावका घात करनेवालेके भाव मिथ्याचारित्र रूप अनायतनकी सेवासे सम्यक्त्व मलिन होता है । और विषादिके द्वारा अपना या परका घात करनेवाला द्रव्य मिथ्याचारित्रका सेवी होता है । आशह यह है कि हिंसा के दो प्रकार हैं--भावहिंसा और द्रव्यहिंसा पहलें प्रकारकी हिंसा भावहिंसा है और दूसरे प्रकारकी

हिंसा द्रव्यहिंसा है। जैनधर्म में भावहिंसाको हिंसा माना है। चाहे द्रव्यहिंसा हुई हो या न हुई हो। जहाँ भावमें हिंसा वहाँ अवश्य ही हिंसा है। किन्तु द्रव्यहिंसा होनेपर भी यदि भावमें हिंसा नहीं है तो हिंसा नहीं है। अतः रागादिरूप परिणाम होने पर आत्माके विशुद्ध परिणामोंका घात होनेसे हिंसा अवश्य है और इसलिए उसका फल अनस्त दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। किन्तु द्रव्यहिंसामें ऐसी नियामकता नहीं है। कदाचित् विष खाकर मरनेवाला आदमी

अथ हिंसाहिसंयोर्माहात्म्यमाह--

हीनीऽपि निष्ठया निष्ठागारिष्ठ स्यादहिंसया ।

हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोऽपि श्वपचादपि होयते ॥ १०१ ॥

निष्ठया--व्रतादिना ॥ १०१ ॥

अथ मिथ्याचारित्रपरः सह सांगत्यं प्रत्याख्यति--

केचित् सुखं दुःखनिवृत्तिमन्ये प्रकर्तुकामाः करणीगुरुमाम् ।

कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्तो हिंसामहिंसारसिकैरपास्याः ॥ १०२ ॥

करणीगुरुणां--मिथ्याचार्याणाम् ॥ १०२ ॥

अथ त्रिसूढापीढत्वं सम्यग्दृष्टैर्भूषणत्वेनोपदिशति--

यो देवलिङ्गिसमयेषु तमोमयेषु लोके मतानुगतिकेऽपथैकपान्थे ।

कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्ती हिंसामहिंसारसिकैरपास्याः ॥ १०२ ॥

करणीगुरुणां--मिथ्याचार्याणाम् ॥ १०२ ॥

अथ त्रिसूढापीढत्वं सम्यग्दृष्टत्वेनापदिशति--

यो देवलिङ्गिसमयेषु तसोमयेषु लोके मतानुगतिकेऽपथैकपान्थे ।

न द्वेषि रज्यति न च प्रचरद्विचारः सोऽमूढदृष्टिरिह राजात रेवतीवत् ॥ १०३ ॥

समयः--शास्त्रम् । तमोसयेषु--अज्ञानरूपेष्वज्ञानबहुलेषु वा । अपथैकपान्थे--केवलान्मार्गान्यचारिणि

। ननु च कथमेतद् यावता लोकदेवतापाषण्डिभेदात् त्रिधैव मूढमनुष्यते । तथा च स्वामिसूक्तानि--

यदि तत्काल सद्बुद्धि आ जानेसे पंचनमस्कार मन्त्रका जप करते हुए प्राण छोड़ता है तो वह अपनी गलतीका प्रतीकार तत्काल कर लेता है अतः अनन्त दुःखका भागी नहीं होता ॥ १०० ॥

हिंसा और अहिंसाका माहात्म्य कहते हैं --

व्रतादिके अनुष्ठानरूप निष्ठासे हीन भी व्यक्ति द्रव्य और भावहिंसाके त्याग से निष्ठाशाली होता है और उत्कृष्ट निष्ठावाला भी व्यक्ति हिंसा करनेसे चाण्डालसे भी नीच होता है ॥ १०१ ॥

मिथ्याचारित्रका पालन करनेवालोंके साथ संगति करनेका निषेध करते हैं--

जो विचारशील पुरुष अज्ञानमय या अज्ञानबहुल, देव, गुरु, शास्त्रमें तथा केवल कुमार्गमें नित्य गमन करनेवाले गतानुगतिक लोगोमें न द्वेष करता है और न राग करता है वह अमूढदृष्टि इस लोकमें रानी रेवतीकी तरह सम्यक्त्वके आराधकके रूपमें शोभित होता है ॥ १०३ ॥

विशेषार्थ--प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसको उसी रूपमें व्यवस्थित करनेमें हेतु तर्क वितर्कको विचार कहते हैं। तथा देश काल और समस्त पुरुषोंकी अपेक्षा बाधकाभावरूपसे विचारका प्रवर्तन करनेवालेको विचारशील कहते हैं। बिना विचारे काम करनेवालोंका देखादेखी अनुसरण करनेवालोंको गतानुगतिक कहते हैं। ऐसे लोगोंमें और कृदेव, कृगुरु और कृशास्त्रमें जो न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् उनकी उपेक्षा करता है वह अमूढदृष्टि है। यहाँ यह शंका होती है कि मूढता के तो तीन ही भेद हैं लोकमूढता, देवमूढता और पाषण्डिमूढता। स्वामी समन्तभद्रने कहा है--

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते ॥

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।

देवता यदुपासीत देवतामूढमूच्यते ॥

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।

पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ [रत्न. श्रा. २२-२४]

नैष दोषः, कुदेवे कुलिङ्गिनि वा कदागमस्यान्तर्भावात् । कथमन्यषेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत--

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ [रत्न. श्रा. ३०]

एतदनुसारेणैव टक्कुरोऽपीदमपाठीत्--

लोकेशास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।

नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥ [पूरुषार्थ. २६]

विचारः--प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुः क्षोदः । अमूढदृष्टिः--अमूढा

पडनायतनत्यागादनभिभूता दृष्टि सभ्यक्त्वं यस्य । एतेन षडायतनवर्जनद्वारेणामूढदृष्टित्वगुणोऽपि पन्नमः

स्मृति-प्रसिद्धः संगृहीतः । सिद्धान्ते तु चत्वार एव दृगिवशुद्धिवृद्धयर्था गुणाः श्रूयन्ते । तथा चाराधनाशास्त्रं--

उवगूहण ठिदिकरणं बच्छल्ल पहावणा गुणा भणि ।

सम्मत्तविसुद्धीए उवगूहणगारया चउरो ॥ [भ. आरा. ४५]

कल्याण का साधन मानकर नदी या समुद्रमे स्नान करना, बालू और पत्थरोंका स्तूष बनाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना लोकमूढता है। इस लोक सम्बन्धी फलकी आशा रखनेवाला मनुष्य इच्छित फल प्राप्त करनेकी इच्छासे जो राग-द्वेषसे मलिन देवताओंकी उपासना करता है उसे देवमूढता कहते हैं। परिग्रह और आरम्भ सहित तथा संसारमें भटकानेवाले पापण्डियोंका--साधुओका आदर--सत्कार पापण्डिमूढता है।

इस तरह तीन ही भूढता हैं किन्तु यहाँ चार मूढताएँ बतायी हैं। किन्तु यह कोई दोष नहीं है क्योंकि कुदेव और कुगुरुमें कुशास्त्रका अन्तर्भाव होता है। यदि ऐसा न होता तो स्वामी समन्तभद्र ऐसा क्यों कहते कि,

निर्मल सभ्यदृष्टियोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंको प्रणाम और विनय भी नहीं करना चाहिए ।

स्वामीके उक्त कथनका अनुसरण करके अमृतचन्द्रजीने भी कहा है--

लोकमें शास्त्राभासमें, धर्माभासमें और देवाभासमें तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टिको सदा समूहदृष्टि होना चाहिए ।

अमूढा अर्थात् छह अनायतनोंके त्यागसे अनभिभूत है दृष्टि सभ्यक्त्व जिसका उसे अमूढदृष्टि कहते हैं । इससे छह अनायतनोंके त्यागके द्वारा पाँचवाँ अमूढदृष्टि अंग भी संगृहीत होता है । सिद्धान्तमें तो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले चार ही गुण सुने जाते हैं । आराधना शास्त्रमें कहा है--

उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सभ्यदर्शनकी विशुद्धिको बढ़ानेवाले हैं ।

एतद् विषययाश्चान्ये अनुपगूहनादयश्चत्वारि दर्शनदोषाः संभवन्ति । अत एव विस्तररुचीन् प्रति पद्मःविंशतिसम्यक्त्वदोषान् व्याचदाते । तथा चोक्तं--

मूढत्रयं मदाश्चाष्टो तथानायतनानि षट् ।

अष्टौ शंकादयश्चेति, दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥ [सोम. उपा. २४१ श्लो.] ॥ १०३ ॥

अथानुपगूहनादिकारिणः सम्यक्त्ववैरिण इत्याचष्टे--

यो दोषमु द्रावयति स्वयूथ्ये यः प्रत्यवस्थापयतौममित्ये ।

न योऽनुगूहयति न दीनमेंनं मार्गं च यः प्लोषति दृग्दृषस्ते ॥ १०४ ॥

दोष--सनतमसन्तं वा सम्यक्त्वव्याधिचारम् । स्वयूथ्ये--सधर्मणि । प्रत्यवस्थापयति इमं स्वयूथ्यं दर्शनादिः प्रत्यवस्यन्तम् । दीनं--प्रक्षीपपुरुषार्थसाधनसामर्थ्यम् । प्लोषति--दहति महात्म्याद् भ्रंशयति, निश्ःप्रभावतया लोके प्रकाशयतीत्यर्थः । ते अनुपगूहनास्थितिकरणावात्सल्याप्रभावनाकर्तारश्चत्वारः क्रमेणोक्ताः ॥ १०४ ॥

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके निर्जराधिकारमें, आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सभ्यदर्शनके आठ अंगोका विवेचन किया है । पूज्यशपाद अकलंक आदिने भी तत्त्वार्थसूत्र ६--२४ की व्याख्यामें सभ्यदर्शनके आठ अंग गिनाये हैं । किन्तु भगवती आराधनामे सभ्यवत्वके वर्धक चार ही गुण कहे हैं । श्वेताम्बर परम्परामें भी हमें आठ अंगोका उल्लेख नहीं मिला । रत्नकरण्डमें सभ्यदर्शनको तीन मूढतारहित आठ मदरहित और आठ संगसहित कहा है । उत्तर कालमें इनमें छह अनायतनोंके मिल जानेसे सभ्यदर्शनके पचीस दोष माने गये । उपासकाध्ययनमें कहा है--

तीन मूढता, आठ मद्, छह अनायतन और शंका आदि आठ ये सभ्यदर्शनके पचीस दोष हैं ।

भगवती आराधनामे ही सभ्यदर्शनके पाँच अतीचारोंमें अनायतन सेवा नामक अतीचार गिनाया है । अनायतनही परम्पराका उद्गम यहीसे प्रतीत होता है । उसकी टीकामें अपराजित निश्चय अनायतनशके छह भेद करते हुए प्रथम भेद मिथ्यात्वके सेवनको अतीचार नहीं, अनाचार कहा है, अर्थात्

वह मिथ्यादृष्टि ही है । श्वेताम्बर साहित्यमें अनायतन शब्द तो आया है किन्तु छह अनायतन हमारे देखनेमें नहीं आये ॥ १०३ ॥

आगे कहते है कि उपगूहन आदि नहीं करनेवाले सम्यक्त्वके बैरी हैं --

जो साधमीमें विद्यमान या अविद्यमान दोषको--जिससे सभ्यक्त्व आदिमें अतीचार लगता है, प्रकाशित करता है, जो सभ्यदर्शन आदिसे चिगते हुए साधमीको पुनः उसी मार्गमें स्थापित नहीं करता, जो पुरुषार्थके साधनकी सामर्थ्यसे हीन साधमीको साधन सम्पन्न नहीं करता तथा जो अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्तिके उपायरूप मार्गको उसकी महत्तासे भ्रष्ट करता है--लोकमें उसे प्रभावशून्य बतलाता है, ये क्रमशः उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गूणोंका पालन न करनेवाले चारों सभ्यक्त्वके विराधक हैं ॥ १०४ ॥

विशेषार्थ--इन चारों गुणोंका स्वरूप समयसारमें तो स्वपरक कहा है । और रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें परपरक कहा है । प्रथम कथन निश्चयसे है और दूसरा कथन व्यवहारसे है । जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सब मिथ्यात्व राग आदि बिभंवा धर्मोंको ढँकनेवाला--दूर करनेवाला है वह सभ्यदृष्टिं उपगूहन अंगका पालक है । जो उन्मार्गमें जाते हुए अपने

इति दोषोज्झनम् ।

इतो गुणापादनमुच्यते । तत्र तावदूपगूहनगुणमन्तवैहिवृतिरुपेण

द्विविधमप्यवश्यकर्तव्यतयोपदिशति

धर्म स्वबन्धुमभिभूष्णुकषायरक्षः क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपश्रश्ः सदा स्यात् ।

धर्मोपबृंहणधियाऽबलवालिशात्मयूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्तः ॥ १०५ ॥

अभिभूषण--ताच्छील्येन व्याहतशक्तिर्ककुर्वन । कीर्णैर्यरक्षः--क्रोधादिराक्षसमिक

धोरदुर्निवारत्वात् । जिनेन्द्रभक्तः --संज्ञेयम् । उक्तं च--

धर्मो विवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमूपबृ हणगुणार्थम् ॥ [पुरुषार्थ. २७] ॥ १०५ ॥

आत्माको सन्मार्गमें स्थित करता है वह सभ्यदृष्टि स्थितिकरण अंगका पालक है । जो मोक्षमार्गके साधक सभ्यदर्शन, सभ्यज्ञान और सभ्यकचारित्रको अपनेसे अभिन्न रूपसे अनुभव करता है वह वात्सल्य अंगका धारक है । जो विद्यारूपी रथपर चढ़कर मनरूपी रथके मार्गमे भ्रमण करता है वह सभ्यदृष्टि प्रभावना अंगका पालक है (समय.गा.२३३-३६) स्वयं शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें बाल और अशक्त जनोंके द्वारा होनेवाली निन्दाको जो दूर करता है उसे उपगूहन कहते हैं । सभ्यदर्शन और सभ्यक्चारित्रसे डिगते हुआंको जो दूर करता है उसे उपगूहन कहते हैं । सभ्यदर्शन और सभ्यक्चारित्रसे डिगते हुआंको धर्मप्रेमी पण्डितजनके द्वारा अपने धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण है । साधर्मियोंके प्रति समीचीन भावसे छल--कपटरहित यथायोग्य आदर भाव वात्सल्य है । अज्ञानान्धकारके फैलावको जैसे भी बने वैसे दूर करके जिनशासनके महात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है [रत्न. श्लो. १५-१८] ॥ १०४ ॥

यहाँ तक सभ्यदर्शनशकेदोषोंकी त्यागनेका कथन किया । आगे गुणोंको उत्पन्न करनेका कथन करते हैं । उनमें से प्रथम अन्तवृत्ति और वहिवृत्ति रूपसे दोनों प्रकारके उपगूहन गुणको अनिवार्यतः पालन करनेका उपदेश देते हैं--

धर्मको बढ़ानेकी भावनासे मुमुक्षुको अपने बन्धुको समान सभ्यक्त्वरूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करनेवाले कषायरूप राक्षसोंका निग्रह करनेके लिए सदा उत्तम क्षमा आदि दिव्य आयुधोंसे सुसज्जित होना चाहिए । और अपने अशक्त तथा अज्ञानी साधर्मि जनोंके दोषोंको ढाँकनेके लिए जिनेन्द्रभक्त नामक सेठकी तरह चेष्टा करना चाहिए ॥ १०५ ॥

विशेषार्थ--इस लोक और परलोकमेबन्धुके समान उपकारी होनेसे धर्म अपना बन्धु है और क्रोधादिरूप अषाय भायनक तथा दुर्निवार होनेसे राक्षसकेसमान है । यह कषाय धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करती है । कषायके रहते हुए सभ्यक्त्वरूप या रत्नत्रयरूप धर्म प्रकट होना कठिन होता है । प्रकट भी हो जाये तो उसकी अभ्युन्नति कठिन होती है । अतः कषायोंके विरोधी उत्तम क्षमा आदि भावनासे कषायरैपी राक्षसका दलन करनेके लिए तत्पर रहना चाहिए । उसके बिना आत्मधर्मका पूर्ण विकास सम्भव नहीं है । यह उपवृहण गूण जो अन्तवृत्तिरूप है उसीकी बाह्य वृत्तिका नाम उपगूहन है अर्थात् एक ही गूणको दो नाम दशे दृष्टियोंसे दिये गये हैं । अज्ञानी और असमर्थ साधर्मि जनोंके द्वारा होनेवाले अपवादको ढाँककर धर्मको निन्दानेसे बचारा उपगूहन है । इस उपगूहनसे धर्मका उपवृहण--वृद्धि होती है क्योंकि धर्मकी निन्दा होनेसे धर्मके प्रसारको हानि पहुँचती है ।

अथ स्वपरयोः स्थितीकरणाचरणमाह--

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं

स्वं धारयेल्लघु विवेकसुहृदबलेन ।

तत्प्रच्युतं परमपि दृढयन् बहुस्वं,

स्याद्वारिषेणबदलं महतां महार्हः ॥ १०६ ॥

सुपथः--व्यस्ताद् समस्ताद्वा रत्नत्रयात् । धारयेत--स्थिरीकुर्यात् । तत्प्रच्युतं--

सन्मार्गप्रच्यवनोन्मुयखम् । दृढयन्--स्थितीकुर्वन् । बहुस्वं--आत्मानभिव । ईषदसिद्धः स्व इति विगृह्य वा

सुपो बहुः प्राक् इत्यनश्न बहुप्रत्ययः पूर्वं विधीयते । महार्हः--पूज्यः ।

उक्तं च--कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात् ।

द्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितीकरणमपि कार्यम् ॥ [पुरुषार्थ. २७] ॥ १०६ ॥

अथाऽन्तर्बहिर्वात्सल्यकरणे प्रयुङ्क्ते--

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभौक्षणं

दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षति च ।

धर्मं सधमैसू सुधीः कुशलाय बद्ध--

प्रेमानुबन्धमय विष्णुवदुत्सहेत ॥ १०७ ॥

दृष्टि--अन्तर्मति चक्षुश्च । क्षिपेत्--व्यापारयेत् । विष्णुवत्--विष्णुकुमारो यथा । उक्तं च--

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मं ।

सर्वेष्वपि च सधर्मसू परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥ [पुरुषार्थ. २९] ॥ १०७ ॥

इस अंगका पालन करनेवालोंमें जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसने एक क्षुल्लक भेषधारी चोरके अपने चैत्यालयसे मणि चुरा लेनेपर भी धर्मकी निन्दाके भयसे उसका उपगूहन किया था ॥ १०५ ॥

अपना और दूसरोंका स्थितिकरण करनेकी प्रेरणा करते हैं--

बलवान् दैव--पूर्वकृत कर्म और प्रमादके वशसे सम्पूर्ण रत्नत्रय पर या उसके एक देशरूप सुमार्गसे गिरनेके अभिमुख अपनेको युक्तायुक्त विचाररूप मित्रकी सहायतासे शीघ्र ही सन्मार्गमें स्थिर करना चाहिए। सन्मार्गसे गिरनेके अभिमुख दूसरे साधर्मिकों भी अपनी ही तरह सन्मार्गमें स्थिर करनेवाला श्रेणिक पुत्र वारिषेणकी तरह इन्द्रादिके द्वारा महान् पूज्य होता है ॥ १०६ ॥

अन्तरंग और बाह्य वात्सल्यके करनेकी प्रेरणा करते हैं--

जैसे तत्कालकी ब्याही हुई गाय अपने बच्चेपर अनुरागवश निरन्तर दृष्टि रखती है, उसे आँखोंसे ओझल नहीं होने देती, और उसकी हानि नहीं सकती, उसी तरह मुमुक्षुको भी धर्ममें अपनी दृष्टि रखनी चाहिए। तथा मनसे भी की गयी धर्मकी क्षतिको नहीं सहना चाहिए। और साधर्मिकों के कल्याणके लिए विष्णुकुमार मुनि की तरह स्नेहके अनुबन्धको लिये हुए प्रयत्न करना चाहिए ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ--वात्सल्य अंगका पालन करनेवालोंमें मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने बलिके द्वारा अकम्पनाचार्य सहित सात सौ मुनियों पर किये गये उपसर्गको अपनी विक्रिया दृष्टिके द्वारा दूर करके वात्सल्य अंगका पालन किया था ॥ १०७ ॥

अथान्तरङ्गबहिरङ्गप्रभावनशामाह--,

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबन्धनं

स्वस्य प्रभावमभिमोऽदुत्तमारभेत ।

विद्यातपोयजनदानमुखावदानै-

वज्ज्रादिवज्जिनमतश्रियमुद्वरेच्च ॥ १०८ ॥

अवदानं--अदुत्तकर्म । वज्ज्रादिवत् -- बज्जकुमारादयी यथा । जिनमतश्रियं --जिनशासन
माहात्म्यम् । उद्वरेत्--प्रकाशयेत् । उक्तं च--

आत्मा प्रभावनीयी रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।

ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥ [पुरुषार्थ. ३०] ॥ १०८ ॥

अथ प्रकारान्तेरण गुणापादनमाह--

देवादिष्वनुरागिता भववपुभोगेषु नीरागता

दुर्वृत्तेऽशयः स्वदुष्कृतकथा सूरैः कुघाद्यस्थितीः ।

पूजार्हत्प्रभृतेः सधर्मविषदुच्छेदः क्षुधाद्यर्दिते-

षड्विधार्द्रमनस्कताऽष्ट चिनुयु संवेगपूर्वा दृशम् ॥ १०९ ॥

देवादिषु--देवे गुरौ संघे धर्मे फलदर्शने च । नीरागता--वैराग्यम् । अनुशयः--पश्चात्तापः ।

क्रुधाद्यस्थितिः--क्रोधादेरस्थिरत्वं, अननतानुबन्धिनामभाव इत्यर्थः । चिनुयुः--वर्द्धयेयुः । संवेगपूर्वाः । ते

यथाक्रमं यथा--

अन्तरंग और बाह्य प्रभावनाको कहते हैं--

प्रकृष्ट तेजस्वी रत्नत्रयका सदा अनुवर्तन करते हुए अपने प्रभावको सर्वत्र आश्चर्यजनक रूपसे फैलाना चाहिए। तथा वज्जकुमारकी तरह विद्या, मन्त्र, तप, जिनपूजा, दान प्रमुख अद्भुत कार्योंके द्वारा जिनशायसनके माहात्म्यका प्रकाश करना चाहिए ॥ १०८ ॥

विशेषार्थ--जो साधन करने से सिद्ध होती है वह विद्या है, जैसे आकाशगामिनी विद्या। जो पाठ मात्रसे सिद्ध हो उसे मन्त्र कहते हैं। इच्छाको रोकना तप है। इस प्रकारके अद्भुत कार्योंद्वारा जैनशासनका माहात्म्य लोकमें प्रकट करना बाह्य प्रभावनांग है। इसमें बज्जकुमार प्रतिद्ध हुए हैं। उन्होंने अष्टाहिका पर्वमें जैन रथयात्राकी रोकको हटवाकर धर्मका प्रभाव फैलाया था ॥ १०८ ॥

अन्य उपायोंसे भी गुण प्राप्त करनेकी प्रेरणा करते हैं--

देव, गुरु, संघ धर्म और धर्मके फलमें ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके किये जाने वाले अनुरागको संवेग कहते हैं। संसार, शरीर, और स्त्री आदि भोगोमें राग न करना--उनसे विरक्त होना वैराग्य है। दुष्ट कार्य हो जानेपर उसका पश्चात्ताप होना निन्दा है। आचार्यके सम्मुख अपने बुरे कार्यको प्रकट करना गर्हा है। क्रोध आदि कषायोंकी अस्थिरताको उपशम कहते हैं। जिनदेव, सिद्ध आदि पूज्य वर्गकी पूजा करना भक्ति है। साधर्मियों पर आयी आपत्तियोंको दूर करना वात्सल्य है। भूख आदिसे पीड़ित प्राणियोंको देखकर हृदयका दयासे द्रवित होना अनुकम्पा है। इस प्रकार ये संवेग आदि आठ गुण सभ्यक्त्वको बढ़ाते हैं ॥ १०९ ॥

विशेषार्थ--सभ्यदर्शनके आठ अंगोंका विवेचन करके अन्य गुणोंका कथन यहाँ किया है--

संवेओ णिव्वेओ णिदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।

वच्छल्लं अणुकंमा गुणा हु सम्मतजुत्तस्य ॥ [भाव. सं. वसुनन्दि. ४९] ॥ १०९ ॥

इति गुणापादनम् ।

अथ विनश्यापादनमुच्यते --

धर्माहंदादितच्चैत्यश्रुतभक्त्यादिकं भजेत् ।

दृग्विशुद्धिविद्वयर्थं गुणवद्विनयं दृशः ॥ ११० ॥

वसुनन्दि श्रावकाचारमें कहा है--

संवेगा, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये सभ्यदृष्टिके गुण हैं। इन्हींका स्वरूप ऊपर कहा है ॥ १०९ ॥

विनय गुणको प्राप्त करनेका उपदेश देते हैं --

जैसे सभ्यदर्शनकी निर्मलताको बढ़ानेके लिए उपगूहन आदि गुणोंका पालन किया जाता है वैसे ही धर्म, अर्हन्त आदि, उनके प्रतिबिम्ब और श्रुतकी भक्ति आदिरूप सभ्यदर्शन की विनयका भी पालन करना चाहिए ॥ ११० ॥

विशेषार्थ--भगवती आराधना (गा.४६-४७) में जो कहा है उसका विस्तृत व्याख्यान अपराजिताचार्य रचित मूलाराधना टीका तथा पं. आशाधर रचित मूलाराधना दर्पणसे यहाँ दिया जाता है--अरि अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश करनेसे, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका नाश करनेसे, अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे और अतिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हत् नामको प्राप्त नोआगम भावरूप अर्हन्तोका यहाँ ग्रहण है। जो नाममात्रसे अर्हन्त है उनका ग्रहण यहाँ नहीं है, क्योंकि उनमें अरिहनन आदि निमित्तोंके अभावमें भी बलात् अहन्त नाम रख दिया जाता है। अर्हन्तोंके प्रतिबिम्ब भी यह यह हैं उस प्रकारके सम्बन्धसे अहन्त कहे जाते हैं। यद्यपि वे अतिशय पूजाके योग्य हैं तथापि बिम्बोंमें अरिहनन आदि गुण नहीं है इसलिए उनका भी यहाँ ग्रहण नहीं है। अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता है किन्तु उसमें उपयुक्त नहीं है अन्य कार्यमें लगा है उसे आगम द्रव्य अर्हन्त कहते हैं। उस शास्त्रके ज्ञाताके त्रिकालवर्ती शरीरको ज्ञायक शरीर अर्हन्त कहते हैं। जिस आत्मामें अरिहनन आदि गुण भविष्यमें होंगे उसे भवि अर्हन्त कहते हैं। तीर्थकर नामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य अर्हन्त है। अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान और अर्हन्तके स्वरूपका ज्ञान आगमभाव अर्हन्त है। इन सभीमें अरिहनन आदि गुणोंका अभाव होनेसे उनका यहाँ अर्हत् शब्दसे ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूपको नहीं प्राप्त किया है उसमें व्यवहृत सिद्ध शब्द नामसिद्ध है। अथवा निमित्त निरपेक्ष सिद्ध संज्ञा नामद्वि है। सिद्धोंके प्रतिबिम्ब स्थापना सिद्ध है। शंका--सशरीर आत्माका प्रतिबिम्ब तो उचित है, शुद्धात्मा सिद्ध तो शरीरसे रहित है, उनका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है? समाधन पूर्वाभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे जो सयोग केवली या इतर शरीरानुगत आत्मा है उसे शरीरसे पृथक् नहीं कर सकते। क्योंकि शरीरसे उसका विभाग करनेपर इसलिए शरीरके आकाररूप चेतन आत्मा भी आकारवाला ही है क्योंकि वह आकारवानसे अभिन्न है जैसे शरीरमें स्थित आत्म। वही सभ्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न है इसलिए सिद्धोकी स्थापना सम्भव आत्मा। जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमें उपयुक्त नहीं है और

भक्त्यादिकं-भक्तिं पूजां वर्णजननभवर्णवादनाशनमत्यासादनपरिहारं च। उक्तं च--

अरहंतसिद्धचेदियसुदे य धम्मे य साहुवग्गे य।

आयरियउवज्झाससू पवयणे दंसणे चावि ॥

उसे सिद्ध शब्द से कहा जाता है तो वह आगम द्रव्यसिद्ध है। सिद्धविषयक शास्त्रके ज्ञाताका शरीर ज्ञायकशरीर है। जो भविष्यमें सिद्ध होगा वह भाविसिद्ध है। तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव हैं क्योंकि सिद्धपर्यायका कारण कर्म नहीं है, समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेपर सिद्धपर्याय प्राप्त होती है। पुद्गल द्रव्य सिद्धपर्यायका उपकारक नहीं है इसलिए नोकर्म सिद्ध भी नहीं है। सिद्धविषयक शास्त्रका ज्ञाता जो उसीमें उपयुक्त है वह आगम भावसिद्ध है। जिसके भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक नष्ट हो गये हैं तथा जिसने सब क्षायिक भावोंको प्राप्त कर लिया है वह नोआगम भावसिद्ध है। उसीका यहाँ ग्रहण है, शेषका नहीं क्योंकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नहीं किया है। चेदिय शब्दसे अर्हन्त और सिद्धोके प्रतिबिम्ब ग्रहण किये हैं अथवा साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण किया जाता है। श्रुत ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धानपूर्वक ज्ञान श्रुत हैं। बारह

अंग, चौदह पूर्व और अंगबाह्य ये उसके भेद हैं। अथवा तीर्थकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचित वचनसमूह और लिपिरूप अक्षरसमूह भी श्रुत हैं। धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुगत होना चाहिए। उसके सामायिक आदि पाँच भेद हैं। जो दुर्गतिमें पड़े जीवको शुभ स्थानमें धरता है वह धर्म है। अथवा उत्तम क्षमा आदि रूप इस धर्म हैं। जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु हैं उनका वर्ग अर्थात् समूह। वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानरूपसे परिणतिको ज्ञानाचार कहते हैं। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामको दर्शनाचार कहते हैं। पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणतिको चारित्रचार कहते हैं। अनशन आदि तप करनेको तप आचार कहते हैं। ज्ञानशक्तिमें अपनी शक्तिको न छिपाने रूप वृत्तिको वीर्याचार कहते हैं। इन पाँच आचारोंको जो स्वयं पालते हैं और दूसरोंसे पालन कराते हैं वे आचार्य हैं। जो रत्नत्रयमें संलग्न हैं और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं। जिनके पास विनय पूर्वक जाकर श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। पवयण से प्रवचन लेना। शंका--पहले श्रुत शब्द आया है और श्रुतका अर्थ भी प्रवचन है, अतः पुनरुक्त दोष आता है। समाधान--यहाँ प्रवचन शब्दसे रत्नत्रय लेना चाहिए। कहा है--ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रवचन है। अथवा पहले श्रुतसे श्रुतज्ञान लिया है और यहाँ जीवादि पदार्थ लिये हैं और यहाँ जीवादि पदार्थ लिये हैं अर्थात् शब्दश्रुत प्रवचन है। दर्शनसे सभ्यग्दर्शन लिया है। अर्हन्त आदिके गुणोंमें अनुरागको भक्ति कहते हैं। पूजाके दो प्रकार हैं -- द्रव्य पूजा और भावपूजा। अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुरष, धूप, अक्षत आदिका दान द्रव्यपूजा है। आदरपूर्वक खड़े होना, प्रदक्षिणा देना, नमस्कार आदि करना, वचनसे गुणोंका स्तवन करना भी द्रव्यपूजा है। और मनसे गुणोंकएि स्मरण करना भावपूजा है। वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं। यहाँ उनमें-से यश अर्थ लेना चाहिए। विद्वानोंकी परिषद्में अर्हन्त आदिका यश फैलाना उनके वचनोंको प्रत्यक्ष अनुमान आदिके अविरुद्ध बतलाकर महत्ताका ख्यापन करना भगवानका वर्णजनन है। निर्वाणको चैतन्य मात्रमें अवस्थिति माननेपर अपर्व अतिशयोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि बिना प्रयत्नके ही सभी आत्मोंमें चैतन्य

भक्ती पूया वण्णजणं च णासणमवण्णवादस्स ।

आसादणपरिहारी दंसणविणओ समासेण ॥ [भग. आ. ४६-४७] ॥ ११० ॥

सदा वर्तमान रहता है। विशेष रूपसे रहित चैतन्य आकाशके फुलकी तरह असत् है। प्रकृति तो अचेतन है उसके लिए मुक्ति अनुपयोगी है। प्रकृतिके बँधने या छुटनेसे आत्माका क्या? इस प्रकार सांख्य मतमें सिद्धपना सम्भव नहीं है। नैयायिक वैशेषिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अभाव मानते हैं। कौन समझदार आत्माको जड़ बनाना पसन्द करेगा। तथा विशेष गुणोंसे शुन्य आत्माकी सत्ता कैसे सम्भव है? जो बुद्धि आदि विशेष गुणोंसे रहित है वह तो आत्मा ही नहीं है, जैसे भस्म। इस प्रकार अन्य मतोंमें कथित सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता। अतः बाधा करनेवाले समस्त कर्मलेपके विनाशसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यमें स्थित और अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सन्तुष्ट सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके महात्म्यका कथन सिद्धोंका वर्णजनन है। जैसे वीतरागी, वीतद्वेषी, त्रिलोकके चूडामणि भव्य जीवोंके शुभोपयोगमें करण होते हैं। उसी प्रकार उनके बिम्ब भी होते हैं। बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे ही शुभ और

अशुभ परिणाम होते हैं। जैसे आत्मामें इष्ट और अनिष्ट विषयोंके सान्निध्यसे राग-द्वेष होते हैं, अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रके स्मरणका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्बको देखकर अहन्त आदिके गुणोंका स्मरण होता है। वह स्मरण नवीन अशुभ कर्माका आस्त्रव रोकनेमें नवीन शुभकर्माके बन्धमें, बँधी हुई शुभ प्रकृतियोंके अनुभागको बढ़ानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको घटानेमें समर्थ है। इसलिए जिनबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए। इस प्रकार बिम्बकी महत्ताका प्रकाशन बिम्बका वर्णजनन है। कर्मरूपी तापका निर्मूलन करनेमें तत्पर शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयगिरिके समान है, स्व और परका उद्धार करनेमें लीन विद्वानोंके द्वारा मनसे आराधनीय है, अशुभ आस्त्रवको रोकता है, अप्रमत्ता लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष ज्ञानका बीज है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त कराता है, ऐसा कहना श्रुतका वर्णजनन है। जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट धर्म दुःखसे रक्षा करनेमें, सुख देनेमें तथा मोक्षको प्राप्त करानेमें समर्थ हैं। इस प्रकार धर्मके महाहात्म्यको कहना धर्मका वर्णजनन है साधु अनित्य भावनामें लीन होनेसे शरीर महाहात्म्यको कहना धर्मका वर्णजनन है। साधु अनित्य भावनामें लीन हानेसे शरीर आदिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिनप्रणीत धर्मको ही दुःखसे रक्षा करनेमें समर्थ जानकर उसीकी शरण लेते हैं, कर्मोंको ग्रहण करने, उसका फल भोगने और उनको जड़मूलसे नष्ट करनेवाले हम अकेले ही हैं ऐसा उनका दृढ़ निश्चल होता है, न वे सुखसे राग करते हैं और न दुःखसे द्वेष भूख-प्यास की बाधा होनेपर भी परिणामोंको संक्लिष्ट नहीं करते, ज्ञान ध्यानमें तत्पर रहते हैं इस प्रकार साधुके महाहात्म्यका प्रकाशन उनका वर्णजनन है। रत्नत्रयके लाभसे भव्य जीवराशि अनन्त कालसे मुक्ति लाभ करती आती है इत्यादी कथन मार्गका वर्णजन्म है। समीचीन दृष्टि मिथ्यात्वको इटाकर ज्ञानको निर्मल करती है, अशुभ गतिमे जानेसे रोकती है इत्यादी कथन सभ्यदृष्टिका वर्णजनन है। झूठा दाष लगानेके अवर्णवाद कहते हैं। अर्हन्त सिद्ध आदिमें मिथ्यावादियोंके द्वारा लगाये गये दोषोंके प्रतिवाद करके उन्हें दूर करना चाहिए। आसादना अवज्ञाको कहते हैं। उसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अर्हन्त आदिमें भक्ति आदि करना सम्यक्त्वकी विनय है

॥ ११० ॥

अथ प्रकारान्तरेण सम्यक्त्वविनयमाह --

धन्योऽस्मीयमवापि येन जिनवागप्राप्तपूर्वा मया,

भो विष्वग्जगदेकसारमियमेवास्यै नखच्चोटिकाम् ।

यद्धाम्युत्सुकमुत्सुहाम्यहमिहैवाद्येति कृत्स्नं युवन्,

श्रद्धाप्रत्ययरोचनैः प्रवचनं स्पृष्टया च दृष्टिं भजेत् ॥१११ ॥

उत्सुकं सोत्कण्ठम् । युवन् - मिश्रयन् योजयन्नित्यर्थः । स्पृष्टया- स्पर्शनेन । उक्तं च-

घसद्दहया पत्तियआ रोचयफासंतया पवयणस्स ।

सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया होंति [भा. आ. ७] ॥ १११ ॥

अथाष्टाङ्गपुष्टस्य संवेगादिविशिष्टस्य च सम्यक्त्वस्य फलं दृष्टान्ताक्षेपमुखेन स्फुटयाति --

पुष्टं निःशक्डितत्वाद्यैरङ्गैरष्टाभिरुत्कटम् ।

संवेगादिगुणैः कामान् सम्यक्त्वं दोग्धि राज्यवत् ॥ ११२ ॥

निःशकडितत्वाद्यैः- निःशकडितत्व- निर्विचिकित्सत्व - अमूढदृष्टित्वोपगूहन-स्थितीकरण-वात्सल्य-
प्रभावनाक्षयैः अगुडैः माहात्म्यसाधनैः अष्टाभिः। राज्यं तु
स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलाख्यैःसप्तभिर्गुडैः पुष्टमिति ततोऽस्य व्यतिरेकः । उत्कटम् । राज्यं तु
संधिविग्रहयानासनव्दधीभावंसंश्रयैः षड्भिरिव गुणैर्विशिष्टं स्यात् । अत एव काक्वा राज्यात् सम्यक्त्वं
मनोरथान् पूरयति ? नैवं पूरयति । तर्हि सम्यक्त्वमिवपूरयति इति लोकोत्तरमस्य माहात्म्यमाविष्करोति ॥
११२ ॥

प्रकारान्तरसे सम्यक्त्वकी विनय कहते हैं--

मुमुक्षुको श्रद्धा, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शनके द्वारा समस्त जिनागमको युक्त करते हुए
सम्यग्दर्शनकी आराधना करनी चाहिए । मैं सौभाग्यशाली हूँ क्योंकि मैंने अभी तक संसारमें रहते हुए भी
न प्राप्त हुई जिनवाणीको प्राप्त किया । इस प्रकार अन्तरंगसे श्रद्धान करना श्रद्धाहै । अहो, यह जिनवाणी
ही समस्त लोकमें एकमात्र सारभूत है इस प्रकारकी भावना प्रत्यय है। इसी जिनवाणीके लिए मैं नखोंसे
चिऊँटी लेता हूँ । (अँगूठा और उसके पासकी तर्जनी अँगुलीके नखोंसे अपने प्रियके शरीरमें चिऊँटी
लेनेसे उसमें रुचि व्यक्त होती है) । यही रोचन है । आज उत्कण्ठाके साथ मैं उसी जिनवाणीमें उत्साह
करता हूँ यह स्पर्शन है ॥१११ ॥

विशेषार्थ -- कहा भी है इच्छो मनुष्य समस्त जिनागमका श्रद्धान, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शन
करते हैं वे सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥१११॥

आठ अंगोंसे पुष्ट और संवेग आदिसे विशिष्ट सम्यक्त्वका फल दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ---

निःशंकित आदि आठ अंगोंसे पुष्ट और संवेग आदि आठ गुणोंसे प्रभावशाली सम्यग्दर्शन
राज्यकी तरह मनोरथोंको पूर्ण करता है ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ -- सम्यग्दर्शन निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन,
स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन आठ गुणोंसे पुष्ट होता है और संवेग, निर्वेद, गर्हा, निन्दा, उपशम,
भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा नामक आठ गुणोंसे अत्सन्त प्रभावशाली होता है । किन्तु राज्य, स्वामी,
मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना इन सात ही अंगोंसे पुष्ट होता है तथा सन्धि, विग्रह, यान,
आसन, व्दधीभाव और आश्रय इन छह गुणोंसे प्रभावशाली होता है । इससे स्पष्ट है कि राज्यसे सम्यक्त्व
बलशाली है । अतः अर्थ करना चाहिए -- क्या राज्यकी तरह सम्यक्त्व मनोरथोंको पूरा करता है ? अर्थात्
पूरा नहीं करता ।

अथैवमुद्योतनपूर्वकस्य सम्यग्दर्शनोद्यवनाद्याराधनोपायचतुष्टयस्य प्रयोक्तुः फलमाचष्टे ---

इत्युद्योत्य स्वेन सुष्ट्वेकलोलीकृत्याक्षोभं बिभ्रता पूर्यते दृक्।

येनाभीक्षणं संस्क्रियोद्येव बीजं तं जीवं सान्वेति जन्मान्तरेपि॥ ११३॥

स्वेन -- आत्मना सह । एकलोलीकृत्य - मिश्रयित्वा । उद्यवनार्थमिदम् । अक्षोभं बिभ्रता -- निराकुलं वहता । निर्वहणार्थमिदम् । पूर्यते --- साध्यते । साधनाराधनैषा। अभीक्षणं --- पुनः पुनः । संस्क्रिय---

६ मंजिष्ठादिरागानुवेधः। बीजं --- कार्पासादिप्ररोहणम् । जन्मान्तरेऽपि --- तद्भवे मोक्षेऽपि च इत्यापि शब्दार्थः। पक्षे तु पुनः प्रादुर्भावेऽपि ॥ ११३॥

अथ क्षायिकेतरसम्यक्त्वयोः साध्यसाधनभावं ज्ञापयति---

१. सिद्धयौपशमिक्योति दृष्ट्या वैदिकयापि च ।

क्षायिकी साधसेद् दृष्टिमिष्टदूती शिवश्रियः ॥ ११४॥

किन्तु सम्यक्त्व सम्यक्त्वकी तरह ही मनोरथोंकी पूरा करता है उसे राज्यकी उपमा नहीं देना चाहिए। उसका माहात्म्य तो लोकोत्तर है ॥११२॥

इस प्रकार उद्योतनपूर्वक सम्यग्दर्शकी आराधनाके उद्योतनपूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधनाके उद्यवन आदि चार उपायोंकी कतार्को जो फल प्राप्त होता है उसे कहते हैं---

जैसे कपास आदिके बीजमें मुजीठके रंगका अन्तरंग--- बहिरंगव्यापी योग कर देनेपर वह योग बीजके उगनेपर भी उसमें रहता है, वैसे ही उक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शनको निर्मल करके आत्माके साथ दृढतापूर्वक एकमेक करके निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शनको सम्पूर्ण करता है, उस जीवन वह सम्यग्दर्शन न केवल उसी पर्यायमें किन्तु जन्मान्तरमें भी अनुसरण करता है ॥११३॥

विशेषता--- सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और तप प्रत्येककी पाँच- पाँच आराधानाएँ प्रसिद्ध हैं । उक्त श्लोकमें उन्हीका कथन है, यथा-- उद्योत्यं -- निर्मल करके पदके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उद्योतन नामक आराधना जानना । छ्आत्मके साथ एकमेक करके इस पदके द्वारा उद्यवन आराधना कही है । निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए इन शब्दोंके द्वारा निर्वहण आराधना कही है । प्रतिक्षण पूर्ण करता है इस पदके द्वारा साधन और छुस जीव कोइत्यादि पदके द्वार निःसरण आराधना कही है ॥११३॥

आगे क्षायिक सम्यक्त्व तथा शेष दो सम्यक्त्वोंमें साध्य- साधन भाव बतलाते हैं---

अनन्तर कहे गये उद्योतन आदि पाँच उपायोंके प्रयोगके द्वारा निष्पन्न औपशमिक , रूप सम्यग्दर्शनके और वेदक सम्यक्त्वके द्वारा अनन्त ज्ञानादि चतुष्टरूप जीवन्मुक्ति और परममुक्तिकी प्रियदूती क्षायिक दृष्टिको साधना चाहिए ॥११४॥

विशेषार्थ--- विपरीत अभिनिवेशसे रहित आत्मरूप तत्त्वार्थश्रद्धानको दृष्टि या सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं। उसके तीन भेद हैं-- औपशमिक, वेदक या क्षायोपशमिक और क्षायिक । मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व नामक दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंके और अनन्तानुबन्धी क्रोध- मान-माया- लोभ इन चार चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । इन्हीं सात प्रतियोंकी क्षयसे होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिक सम्यक्त्वको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंका उपशम होने पर और शुभ परिणामोंके द्वारा सम्यक्त्व प्रकृतिके स्वरसका निरोध होनेपर वेदक सम्यक्त्व होता है । सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयके साथ होनेसे इसका नाम वेदक है क्योंकि इसमें उसका वेदन-- अनुभवन होता है । यह सम्यक्त्व ही व्यवहारमार्गी है क्योंकि इसमें

उद्योतन आदि आरधनाओका स्पष्ट रूपसे अनुभव होता है । क्षायिक सम्यग्दर्शन या तो औपशमिक सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है या वेदक सम्यक्त्वपूर्वक होता है । इसीसे इनमें और क्षायिक सम्यग्दर्शनमें साध्य- साधन भाव है । पहले दो सम्यक्त्व साधन है । और क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है । यह क्षायिक सम्यक्त्व मुक्ति की प्रियदूती है । अत्यन्त मान्य होनेसे जिसके वचन अनुल्लंघ्य होते हैं वह इष्टदूती होती है । क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर कभी छुटता नहीं है उसी भवमे या तीसरे भवमें नियममें मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

अक्लन देवने कहा है कि श्रुतसे अनेकान्तरुप जीवादि पदार्थोंकी जानकर, नयोंके द्वाररा व्यावहारिक प्रयोजनके साधन उन- उन अनेक धर्मोंकी परीक्षा करे । फिर नाम, स्थापना आदि स्वभावसे भिन्न जीवादि द्रव्योके जाननेमें कारणभूत नय निक्षेपोंके द्वारा श्रुतके द्वारा विवक्षित द्रव्य - भावरुप अर्थात्मक, नामरुप वचनात्मक और स्थापनारुप प्रत्ययात्मक भेदोंकी रचना करके निर्देश स्वामित्व आदि भेदवाले अनुयोगोंके द्वारा जीपादि रूप तत्वोको जानकर अपने सम्यग्दर्शनको पुष्ट करे । इस तरह जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंके रहस्यकों जानकर तपके द्वारा कर्माकी निर्जरा करके मुक्त होकर सुखसे प्राप्त करता है । अर्थात् तत्वको जाननेके जो उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव अल्पबहुत्व आदि बतलाये हैं उन सबको जानकर उनके द्वारा गुणस्थान और मार्गणास्थानको जानकर जीवकी विविध दशाओको हृदयंगम करनेसे सम्यक्त्वका पोषण होता है । इसीसे परमागमसे गुणस्थान, जीवनमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररुपणाओके द्वारा जीव तत्वका विवेचन करके संसारी जीवके स्वरुपका चित्रण किया है । उपादेयकी तरह हेयको भी जानना आवश्यक है । हेयको जाननेसे उपादेयमें आस्था दृढ होती है । इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ समयसार- जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ को रचा वहाँ षट्खण्डागम- जैसे सिध्दान्त ग्रन्थपर भी परिकर्म नामक व्याख्या ग्रन्थ रचा । अतः मुमुक्षुके लिए एकमात्र समयसार ही पठनीय नहीं है, किन्तु चारों अनुयोग

१. ध्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः।

परीक्ष्य तांस्तांस्तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ।

नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने।

विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेान् श्रुतार्पितान् ॥

अनुयोज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः।

द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशतः॥

जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।

तपोनिर्जिर्णकर्माऽयं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥३॥

--- लघीयस्त्रय. ७३-७६ ।

इत्याशाधरदृब्धाया धर्माभूतपज्जिकायां ज्ञानदीपपिकापरसंज्ञायां द्वितीयोऽध्यायः॥

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पञ्चविंशति अष्टौ शतानि । अंकतः श्लोकाः ॥७२५॥

पठनीय है। तभी तो तपकेद्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है। बिना तपकेतीन कालमें मोक्ष नहीं हो सकता। किन्तु कोरे तपसे भी मोक्ष प्राप्त नहीं है। आत्मश्रद्धान ज्ञानमूलक तप ही यथार्थ तप है ॥११४॥

इस प्रकार पं. आशाधररचित धर्माभूतकेअन्तर्गत अनगारधर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका तथा ज्ञानदिपिका नामक पंजिकाकी नुसारिणी हिन्दी टीकामें सम्यक्त्वका उत्पादनादिक्रम नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ॥२॥

तृतीय अध्याय

विद्यावृतस्य संभूतिस्थिवृद्धिफलोदयाः।

न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ (रत्न. श्रा.३२)

इति प्रथमं सम्यक्त्वमाराध्येदानीं सम्यग्ज्ञानाराधनां प्राप्नोति । तत्र तावत् परमज्ञानप्राप्त्युपायभूतत्वाच्छ्रुतस्य तदाराधनायां मुमुक्षुन्नियुङ्क्ते ---

सद्दर्शनब्राह्मणमुहूर्तदृष्यन्मनः प्रसादास्तमसां लवित्रम् ।

भक्तुं परं ब्रह्मं भजन्तु शब्दाब्रह्मैराजसं नित्यमथात्मनीनां॥१॥

ब्रह्मामुहूर्तः-- पश्चदशमुहूर्ताया रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्तः। स च चित्तकालुष्यापसारणव्दारेण संदेहादिच्छेदाद्यथार्था (बुद्धिमुद्बोधयन् प्रसिद्धः। यन्नीतीः-- ब्रह्मे मुहूर्ते उत्थायेतिकर्तव्यतायां समाधिमुपेयात् । सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्था) बुद्धय इति। दृष्यन् --- उत्कटीभवन् । परं ब्रह्म --- शुद्धचिद्रूप स्वात्मस्वरूपम् । तद्धि शब्दब्रह्मभावानावष्टम्भादेव सम्यग्द्रष्टुं शक्यते। तथा चोक्तम् ---

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लो.३२ में) कहा है--- बीजकेअभावमे वृक्षकी तरह सम्यक्त्वकेअभावमें ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिती, वृद्धी और फलकी उत्पत्ति नहीं होती ।

इस आचार्यावचनके अनुसार सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी आरागना करके अब सम्यग्ज्ञानकी आराधना प्रस्तुत करते हैं। उनमें श्रुतज्ञान उत्कृष्ट केवलज्ञानकी आराधनामें लगाते है---

सम्यग्दर्शनकी आराधनाकेपश्चात् जिनके मनकी निर्मलता सम्यग्दर्शनरूपी ब्रह्म मुहूर्तसे उद्बुद्ध हो गयी है, उन आत्माका हित चाहनेवाले मुमुक्षुओंको, मोहनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मका नाश करनेवाले परब्रह्म --- शुद्ध चित्स्वरूप की आराधना करनेके लिए नित्य पारमार्थिक शब्द ब्रह्मश्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ--- सम्यग्दर्शनको ब्राम्ह मुहूर्तकी उपमा दी है । पन्द्रह मुहूर्तकी रात्रिके चौद हवे मुहूर्तको ब्राम्ह मुहूर्त कहते है । मुहूर्त अर्थात् दो घटिका वह समय चित्तकी कलुषताको दूर करके सन्देह आदिको हटाते हुए यथार्थ बुद्धिको जाग्रत् करता है यह बात प्रसिध्द है । कहा भी है----

घ्राम्ह मुहूर्तमे उठकर नित्यकृत्य करके ध्यान लगावे। सुखपूर्वक निद्रासे मनके प्रसन्न होनेपर यथार्थबुद्धि प्रस्फुटित होती है * यतः ब्राम्ह मुहूर्तकी तरह सम्यग्दर्शन भी चित्तकी प्रसन्नताका--- निर्मलताका हेतु है । अतः सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए । क्योंकि श्रुतज्ञानकी आराधना ही समस्त पुरुषार्थकी सिध्दिका सबसे प्रधान उपाय है । श्रुतज्ञान ही स्वात्म्येके अभिमुख संवित्तिरूप है । कहा भी है घ्रहले

स्याकारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत्यमाणेन चापि ।

पश्चन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्म स्वात्म द्रव्यं शुध्दचिन्मात्रमन्तः॥ ()

१. शब्दाब्रम्ह --- श्रुतज्ञानम् । आञ्जसं --- पारमार्थिकं स्वात्माभिमुखसंवित्तिरूपमित्यर्थः। उक्तं च---

गहियं तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेणं भावेज्जो ।

जो ण हु सुअमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसम्भावे ॥

२. लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं ।

सा संवित्ति भणिती सयलवियप्पाण णिडहणी ॥ (द्र.स्व.प्र.नय. ३४९,३५१) ॥१॥

आत्मनीनां:---- आत्माभिहिता:॥१॥

१. अथ श्रुताराधनायाः परम्परया केवलज्ञानहेतुत्वमुपदर्शयन् भूयस्तत्रैव प्रोत्साहयाति---

केवल्यमेव मुक्त्यद्भं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत् ।

सा च श्रुतैकसंस्कारमनसाऽतः श्रुतं भजेत् ॥२॥

२. स्पष्टम् ॥२॥

श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ग्रहण करके पीछे संवेदनके द्वारा उसका ध्यान काना चाहिए । जो श्रुतका अवलम्बन नहीं लेता वह आत्मके सद्भावमे मूढ रहता है । लक्षणके द्वारा अपने लक्ष्यका अनुभव करते हुए जो सुख होता है उसे संवित्ति कहते है । वह समस्त विकल्पोंको नष्ट करनेवाली है । यहाँ लक्ष्म् आत्मा है, वह आत्मा अपने ज्ञानदर्शन आदि गुणोंके साथ ध्यान करने योग्य है । उस आत्माका लक्षण चेतना या उपलब्धि है । वह चेतना दर्शन और ज्ञान रूप है।

श्रुतज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे ही आत्माके शुध्द स्वरूपको देखा जा सकता है । कहा भी है---

जो इस प्रकार स्याव्दादरूपी रालसे सम्बद्ध नयोकेद्वारा तथा प्रमाणसे भी वस्तु स्वरूपको देखते है वे अनन्तधर्मोसे समन्वित शुद्ध चिन्मात्र स्वात्मद्रव्यको अन्तस्तलमें अवश्य देखते है । अतः स्वात्मसंवेदनरूप श्रुतज्ञान पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक है । उसके बिना आत्मदर्शन नहीं हो सकता और आत्मदर्शकके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी ही चाहिए ॥१॥

श्रुतकी आराधना परम्परासे केवलज्ञानमे हेतु है यह बतलाते हुए पुनःश्रुतकी आराधनामें उत्साहित करते है---

केवलज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण है । और वह केवलज्ञान स्वानुभूतिसे ही होता है । तथा वह स्वानुभूति श्रुतज्ञानकी उत्कृष्ट भावनामें लीन मनसे होती है इसतिलए श्रुतकी आराधना करनी चाहिए ॥२॥

विशेषार्थ--- मोक्षमार्गमें केवलज्ञानका जितना महत्व है उससे कम महत्व श्रुतज्ञानका नहीं है । आगममें कहा है की द्रव्यश्रुतसे भावश्रुत होता है और भावश्रुतसे भेदज्ञान होता है । भेदज्ञानसे स्वानुभूति होती है और स्वानुभूतिसे केवलज्ञान होता है । आशय यह है की वस्तुके स्वरूपका निश्चय जीव और कर्मका स्वरूप बतलानेवाले शास्त्रोंके अभ्याससे होता है । जो पुरुष आगममें प्रतिपादित गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओंको नहीं जानता और न अध्यात्ममें प्रतिपादित आत्मा और शरीरादिके भेदको जानता है वह पुरुष

अथ मनसः श्रुतसंस्कारपुरःसस्वसंवेदनोपयोगेन शुद्धचिद्रूपतापरिणतिं दृष्टान्तेन स्पष्टायति---

श्रुतसंस्कृतं स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नामति मानसं क्रमशः।
विहितोषपरिष्वङ्गं शुद्ध्यति पयसा न किं वसनम् ॥३॥

स्वमहसा--- स्वसंवेदनेना उक्तं च---

अविद्याभ्याससंस्कारैरवश्यं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥ (समा.त. ३७ श्लो.)

स्वतत्त्वं--- शुद्धचिन्मात्रं तस्यैव मुमुक्षुभिरपेक्षणीयत्वात् । तदुक्तम् ---

अविद्यायंस्कारव्यतिकराविवेकादकलिलं
प्रवृत्ति- व्यावृत्ति- प्रतिविहतनैष्कर्म्यमचलम् ।
लयात्पयार्याणां क्रमसहभुवामेकमगुणं
स्वतत्त्वं चिन्मात्रं निरुपधि विशुद्ध स्फुरतु वः॥ ()॥३॥

रागादि दोषोसे रहित और अव्याबाध सुख आदि गुणोसे सहित आत्माका भावकर्म शब्दसे कहे जानेवाले रागादिरूप विकल्प जालसे भेद नहीं जानता । इसी तरह कर्मरूपी शत्रुओका नाश करनेमें समर्थ अपने परमात्मतन्त्रका ज्ञानवरण आदि द्रव्यकर्मोके साथ भी भेद नहीं जानता । तथा शरीरसे रहित शुद्ध आत्मपदार्थका शरीर आदि नोकमेसे भी भेद नहीं जानता । इस प्रकारका भेदज्ञान न होनेसे उसे अपने शुद्ध आत्माकी ओर रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे वह समस्त रागादिसे रहित आत्माका अनुभवन नहीं करता । तब वह कैसे कर्मक्षय कर सकता है । अतः मुमुक्षुओंको परमागमके उपदेशसे उत्पन्न निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिए । सारश यह है कि परमागमसे सभी द्रव्यगुण पर्याय ज्ञात होते हैं क्योंकि आगम परोक्ष होते हुए भी केवलज्ञानके समान हैं । पीछे आगमके आधारसे स्वसंवेदन ज्ञान होनेपर स्वसंवेदन ज्ञानके बलसे केवलज्ञान होनेपर सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं । इसलिए श्रुतज्ञानरूपी चक्षु परम्परासे सबको देखती है इसलिए श्रुतकी आराणना करनी चाहिए ॥२॥

मनके श्रुतसंस्कारपूर्वक स्वसंवेदनरूप उपयोगके द्वारा शुद्ध चिद्रूप परिणतिको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ---

कालक्रमसे श्रुतज्ञानसे भावित मन स्वसंवेदनसे शुद्ध चिन्मात्र स्वतत्त्वको प्राप्त कर लेता है । क्या खारी मिट्टीसे रगडा गया वस्त्र जलसे शुद्ध नहीं होता ॥३॥

विशेषार्थ--- यहाँ मन वस्त्रके समान है । श्रुतज्ञान खारी मिट्टी या क्षारके समान है । स्वसंवेदन जलके समान है । जैसे वस्त्रकी शुद्धी कालक्रमसे होती है । उसी तरह मनकी शुद्धि भी धीरे* - धीरे कालक्रमसे होती है । कहा है---

अविद्या अर्थात् अज्ञानके अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा मन पराधीन होकर चंचल हो जाता है--- रागी- व्देषी बन जाता है । वही मन श्रुतज्ञानके संस्कारोंके द्वारा स्वयं ही आत्मास्वरूप स्वतत्त्वमें स्थिर हो जाता है । यहाँ स्वसत्त्वेसे शुद्ध चिन्मात्र लेना चाहिए क्योंकि मुमुक्षुओंको उसीकी अपेक्षा होती है ॥३॥

अथ मत्यादिज्ञानानामप्युपयोगो मुमुक्षूणां स्वार्थसिद्धयै विधेय इत्युपदेशार्थमाह---

१. मत्यवधिमनःपर्ययबोधानापि वस्तुतत्त्वनियतत्वात् ।

उपयुञ्जते यथास्वं मुमुक्षवः स्वार्थसंसिद्धयै ॥४॥

अवधि:--- अधोगतं बहुतर द्रव्यमवच्छिन्नं वा रूपि द्रव्यं धीयते व्यवस्थाप्यते अनेनेत्यवधिर्देशप्रत्यक्ष ज्ञानविशेषः। स त्रेधा देशावध्यादिभेदात् । तत्र देशावधिरवस्थतोऽनवस्थितोऽनुगाम्यननुगामी वर्धमानो

२. हीयमानश्चेति षोढा त्रेधा देशावध्यादिभेदात् । परमावधिरनवस्थितहीयमानवर्जनाच्चतुर्धा। सर्वावधिस्त्यवस्थितोऽनुगाम्यननुगामी चेति त्रेधा। भवति चात्र श्लोकः---

३. देशावधिः सानवस्थाहाहनः स परमावधिः।

वर्धिष्णुः सर्वावधिस्तु सावस्थानुगमेत्तरः॥ ()

आगे उपदेश देते हैं कि मुमुक्षुओको स्वार्थकी सिद्धिके लिए मति आदि ज्ञानोंका भी उपयोग करना चाहिए---

मुमुक्षुगण स्वार्थकी संप्राप्तिके लिए मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनपर्ययज्ञानका भी यथायोग्य उपयोग करते हैं। क्योंकि ये ज्ञान भी वस्तुतत्त्वके नियामक हैं, वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं ॥४॥

विशेषार्थ--- मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो अर्थको जानता है वह मतिज्ञान है। उसके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि अनेक भेद हैं। बाह्य और अन्तरंगमे स्पष्ट अवग्रहादि रूप जो इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्वसंवेदन होता है उसे मति और सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वयं अनुभूत अतीत अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं जैसे वह देवदत्त। यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है इस प्रकारके स्मृति और प्रत्यक्षके जोडरफप ज्ञानको प्रत्याभिज्ञान या संज्ञा कहते हैं। आगके बिना कभी कहींपर धुआँ नहीं होता, या आत्माके बिना शरीरमें हलन-चलन आदि नहीं होता यह देखकर जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है या जिस शरीरमें हलन-चलन है उसमें आत्मा है इस प्रकारकी व्याप्ति के ज्ञानके तर्क या ऊह या चिन्ता कहते हैं। उक्त व्याप्तिज्ञानके बलसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना अनुमान या अभिनिबोध है। रात या दिनमें अकस्मात् ब्राम्ह कारणके बिना घकल मेरा भाई आवेगाइस प्रकारका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रतिभा है। अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको बुद्धि कहते हैं। पठितको ग्रहण करनेकी शक्तिको मेधा कहते हैं। ऊहापोह करनेकी शक्तिको प्रज्ञा कहते हैं। ये सब इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले मतिज्ञानके ही भेद हैं।

अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर अधिकतर अधोगत द्रव्यको अथवा मर्यादित नियतरूपी द्रव्यको जाननेवाले ज्ञानको अवधि कहते हैं। यह देशप्रतयक्षज्ञानका भेद है। उसके तीन भेद हैं--- देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। देशावधिके छह लोद हैं--- अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान और हीयमान। परमावधिके अनवस्थित और हीयमानको छोडकर शेष चार भेद हैं। सर्वावधिके तीन ही भेद हैं--- अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी। कहा भी है-----

देशावधि अनवस्था और हानि सहित है। परमावधि बढता है और सर्वाधिक अवस्थित अनुगामी और अननुगामी होता है। ६

तल्लक्षणविकल्पस्वामिशास्त्रं त्विदम्---

अवधीयत इत्युक्तोऽवधिः सीमा सजन्मभूः।

३

पर्याप्तश्वभ्रदेवेषु सर्वाङ्गो (- त्थो जिनेषु च ॥

गुणकारणको मर्त्यतिक्ष्वब्जादिचिह्नजः।

सोऽवस्थितोऽनु-गामी स्याद् वर्धमानश्च सेतरः॥ ()

इत्यादि। किं चावधिज्ञानिनां नाभेरुपरि शङ्खपद्मदिलाच्छनं स्यात्, विभङ्गज्ञानिनां तु नाभेरधः

६

शरटमर्कटादिः। मनःपर्ययः। तल्लक्षणाया (?) यथा---

स्वमनः परीत्य यत्परमनोऽनुसंधाय वा परमनोऽर्थम्।

विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मनःपर्ययः स मतः॥ ()

अवधिज्ञानका लक्षण, भेद और स्वामीका कथन करते हुए कहा है---

अवधि का अर्थ है मर्यादा या सीमा । मर्यादा सहित ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं-
- भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय और गुणप्रत्यय । भवप्रत्यय --जन्मसे ही होनेवाला अवधिज्ञान देवो और नारकियों तथा तीर्थकरोके होता है। यहि समस्त अंगोसे उत्पन्न होता है । गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यच्च और मनुष्योमे होता है । अवधिज्ञानियोंके नाभि के ऊपर शंख, पद्म आदि चिह्न प्रकट होते हैं और कुअवधिज्ञानियोंके नाभिसे नीचे सरट, मर्कट आदि चिह्न होते हैं । उन्हीसे अवधिज्ञान होता है । षट्खण्डागमके वर्गणा खण्ड (पु. १३, पृ. २९२, सूत्र ५६) में अवधिज्ञानके अनेक भेद कहे हैं। उनका कथन श्रीधवलाटीकाके अनुसार किया जाता है---

अवधिज्ञान अनेक प्रकारका है--- देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकाक्षेत्र, अनेकक्षेत्र । जो अवधिज्ञान कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान घटता ही जाये वह हीयमान है । इसका अन्तर्भाव देशावधिमें होता है, परमावधि, सर्वावधिमें होता है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर हानि वृद्धिको बिना केवलज्ञान होनेतक अवस्थित रहता है वह अवस्थित है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी बढ़ता है, कभी घटता है और कभी अवस्थित रहता है, वह अनवस्थित अवधिज्ञान है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी है । वह तीन प्रकारका है--- क्षेत्रानुगामी , भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी । जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमें उत्पन्न होकर जीवके स्वयं या परप्रयोगसे स्वक्षेत्र या परमक्षेत्रमें जानेपर नष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीवके साथ अन्य भवमें जाता है वह भवानुगामी है । जो अवधिज्ञान भरत, ऐरावत, विदेह आदि क्षेत्रोंमें तथा देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य भवमें भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी है। अननुगामी अवधिज्ञान

४. तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि में सर्वावधिको वर्धमान नहीं कहा है क्योंकि पूरे अवाधिका नाम सर्वाधिक है ।

उसमें आगे बढ़नेका स्थान नहीं है ।

५. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ रराजवार्तिकमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति तक या वह जीवन समाप्त होने तक तदवस्थ रहनेवाले अवधिज्ञानको अवस्थित कहा है ।

तत्त्वस्वरूपविशेषशास्त्रं त्विदम् ----

६. विज्ञि- (चिन्ति-) ताचिन्तिताधर्दादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम् ।

स्यान्मनःपर्ययज्ञानं चिन्तकश्चन नृलोकगः।

व्दिधा हत्पर्ययज्ञानमृज्या विपुलया धिया ।

अवक्राडः मनःकायवर्त्यर्थजनितस्त्रिधा ॥

१. स्यान्मतिर्विपुला षोढा वक्रवक्रङ्ग वाग्घृदि
 तिष्ठतां व्यञ्जनार्थानां षडभिदां ग्रहण यतः॥
 पूर्वा स्त्रिकालरूप्यर्थानू वर्तमाने विचिन्तके।
 वेत्यस्मिन् विपुला धीस्तु भूते भाविनी सत्यपि॥
 विनिद्राष्टदलाम्भोजसन्निभं हृहये स्थितम् ।
 प्रोक्तं द्रव्यमनः (तज्जैर्मनः) पर्ययकारणम् ॥ ()

२. इत्यादी । वस्तुतत्वनियतत्वात् --- वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मनो ऽर्थस्यं तत्त्वं याथात्म्यं तत्र नियताः
 प्रति नियतवृत्त्या निबध्दास्तेषा भावस्तत्त्वं तस्मात्। तथापि --- इन्द्रियजा मतिः
 कतिपयपर्यायविशिष्टं मूर्तमेव वस्तु

भी तीन प्रकार का है--- क्षेत्रानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी । जो क्षेत्रान्तरमें साथ नहीं जाता, भवान्तरमें ही साथ जाता है वह क्षेत्रानुगामी अवधिज्ञान है । जो भवान्तरमें साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवानुगामी अवधिज्ञान है । जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमें साझा नहीं जाता किन्तु एक ही क्षेत्र और भवके साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवानुगामी अवधिज्ञान है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती है । जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही नष्ट होता है वह अप्रतिपाती है । जिस अवधिज्ञानका करण जीवके शरीरका एकदेश होता है वह एक क्षेत्र है । जो अवधिज्ञान शरीरके सब अवयवोंसे होता है वह अनेकक्षेत्र है। तीर्थकर, देवो और नारकियोंके अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है।

तत्त्वार्थ वार्तिकमें (१/२२/५) में प्रथम आठ भेदोंमें --- से देशवधिके आठो भेद बतलाये हैं । परमावधिके हीयमान और प्रतिपाती भेदोंके सिवाय शेष छह भेद बतलाये हैं और सर्वावधिके अवरिथत, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद बतलाये हैं ।

दूसरे मनमें स्थित अर्थको मन कहते हैं असका स्पष्ट जानना मनः पर्यय है । असका लक्षण है---

विशदमनोवृत्ति अर्थात् मनः पर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विशुद्धिवाला जीव अपने या परके मनको लेकर दूसरेके मनोगत अर्थको जानता है उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं । उसका विशेष स्वरूप शास्त्रमें इस प्रकार कहा है---

मनुष्य लोकमें स्थित जीवके द्वारा चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित अर्थको जाननेवाला मनः पर्यय ज्ञान है । उसके दो भेद हैं ऋजुमति मनःपर्यय और विपुलमति मनःपर्यय । ऋजुमतिके तीन भेद हैं--- ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ । अर्थात् मनके द्वारा पदार्थका स्पष्ट चिन्तन करके, वचनके द्वारा स्पष्ट कहकर, शरीरकी चेष्टा स्पष्ट रूपसे करके भूल जाता है कि मैंने अमुक पदार्थका चिन्तन किया था या अमुक बात कही थी या शरीरके द्वारा अमुक क्रिया कि थी । इस प्रकारके अर्थको ऋजुमतिज्ञानी पूछने पर या बिना पूछे भी जान लेता है कि अमुक पदार्थका तुमने इस रीतिसे विचार किया था वेति । मनोमतिस्तु तथाविधं मूर्तममर्तु च । अवधिस्तु तथाविधान् पुद्गलसम्बद्धांश्च जीवान् । मनः पर्ययस्तु

सर्वावधिज्ञानविषयानान्तिमभागमिती । उपयुज्यते--- स्वार्थग्रहणे व्यापारयन्ति । यथास्वं --- आत्मीय--- प्रयोजनानतिक्रमणं तथाहि ---- श्रोत्रं शास्त्रग्रहणादौ, चक्षुर्जिनप्रतिमाभक्तपानमार्गादिनिरीक्षणे, मनश्च गुणदोषविचारस्मरणादौ, तथाऽवधिं संदिग्धश्रुतार्थनिर्णये स्वपरायुः परिमाणादिनिश्चये च व्यापारयन्ति, एवं मनःपर्ययमपि ॥४॥

अथ श्रुतसामग्रीस्वरूपनिर्णयार्थमाह---

स्वावृत्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थनिरूपणम्।
ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छतम् ॥५॥

स्वावृत्यपाये--- श्रुतज्ञानवरणक्षयोपशमे सति । नानार्थः--- उत्पादव्ययधौव्यात्मकं वस्तु, तस्य प्ररूपणं --- सम्यक्स्वरूपनिश्चायनम् । श्रुतमविस्पष्टकर्णम् इत्याभिधानात् । साक्षादिन्त्यादि --- घट इत्यादि--- शब्दश्रवणलक्षणाया धूमोऽयमित्यादी चक्षुरादिज्ञानलक्षणायाश्च मतेर्जातं क्रमेण घटादिज्ञानं वह्न्यादिज्ञानं च शब्दजं लिङ्गजं च श्रुतं स्यात् । ततश्च जातं जलधारणदिज्ञानं च श्रुतम् । श्रुतपूर्वमप्युपचारेण मतिपूर्वमित्युच्यते ।

या कहा था । विपुलमतिके छह भेद है--- तीन ऋजुरूप और तीन वक्ररूप । ऋजुमति मनः पर्यय वर्तमान जीवके द्वारा चिन्तित त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थको जानता है किन्तु विपुलमति चिन्तन करनेवाला यदि भूत हो--- पहले हो चुका हो या आगे होनेवाला हो तब भी उसके द्वारा चिन्तित या आगासी कालमें विचारे जानेवाले रूपी पदार्थको भी जानता है । हृदयमें खिले हुए आठ पॉखुडीके कमलके आकार द्रव्यमन स्थित है वही मनःपर्ययज्ञानका कारण है ।

ये सभी ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तुके स्वरूपको जानते हैं । उनमें --- से इन्द्रियजन्य मतिज्ञान केवल मूर्त द्रव्यकी कुछ ही पर्यायोंको जानता है । मनोजन्य मतिज्ञान मूर्त और अमूर्त द्रव्यकी कुछ पर्यायोंको जानता है । अवधिज्ञान पुद्गलसे सम्बद्ध जीवोंकी कुछ पर्यायोंको जानता है । मनःपर्ययज्ञान सर्वावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यके भी अनन्तवें भागको जानता है । सभी ज्ञान यथायोग्य अपने प्रयोजनके अनुसार ही पदार्थको जानते हैं । यथा--- मुमुक्षुगण श्रोत्रके शास्त्र श्रवण करते हैं, चक्षुके द्वारर जिनप्रतिमाका, खानपानका और मार्ग आदिका निरीक्षण करते हैं, मनके द्वारा गुण--- दोषका विचार स्मरण आदि करते हैं । अवधिज्ञानसे शास्त्रके सन्दिग्ध अर्थका निर्णय करते हैं, अपनी और दूसरोकी आयु के परिमाणका निश्चय करते हैं । इसी तरह मनःपर्ययको भी जानना ॥४॥

श्रुतज्ञानकी सामग्री और स्वरूपका विचार करते हैं---

श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर उत्पाद-- व्यय -- धोव्यात्मक या अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपका निश्चय करनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । यह श्रुतज्ञान या तो साक्षात् मतिज्ञानपूर्वक होता है या परम्परा मतिज्ञानपूर्वक होता है ॥५॥

विशेषार्थ--- श्रुतज्ञान दो प्रकारका है--- शब्दजन्य और लिंगजन्य । घट इत्यादि शब्दके सुननुरूप मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले घटादिके ज्ञानको शब्दजन्य श्रुतज्ञान कहते हैं । और यह धूम है इत्यादि चक्षु

आदिके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले आग वगैरहके ज्ञानको लिंगराज्य श्रुतज्ञान कहते हैं ।
घट आदिको ज्ञानके बाद जो यह ज्ञान होता है कि यह घट जल भरनेके काम आता है या अग्निके ज्ञानके
बाद जो यह ज्ञान होता

उक्तं च --- मतिपूर्व श्रुतं दक्षैरुपचारान्मतिर्मता।

मतिपूर्व ततः सर्व श्रुतं ज्ञेयं विचक्षणैः ॥ (अमित पं. सं. १/२१८)

३. एतच्च भावश्रुतामित्युच्यते ज्ञानात्मकत्वात्। एतन्निमित्तं तु वचनं द्रव्यश्रुतमित्याहुः ॥५॥
यद्यैव वदेधा स्थित श्रुतं तर्हि तद्भेदाः सन्ति न सन्ति वा? सन्ति चेत् तदुच्यतामित्याह---

१. तद्भावतो विंशतिधा पर्यायादिविकल्पतः।

द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् विंशतिधा स्थितम् ॥६॥

पर्यायः--- अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोतस्य प्रथमसमये जातस्य प्रवृत्तं सर्वजघन्यं ज्ञानं तद्वि
लब्धयक्षरापराभि धानमक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणत्वात् सर्वविज्ञानेभ्यो जघन्यं नित्योद्घाटितं निरावरणं, न
हि तावतस्तस्य

१. कदाचनाऽप्यभावो भवति आत्मनोऽप्यभावप्रसङ्गात् उपयोगलक्षणत्वात्तस्य । तदुक्तम् ---

है की यह पकानेकी काम आती है । यह श्रुतज्ञान यद्यपि ज्ञुतज्ञानपूर्वक होता है फिर भी उसे उपचारसे
मतिपूर्वक कहते हैं । कहा भी है---

ज्ञानियोंने मतिपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको उपचारासे मतिज्ञान माना है । अतः साक्षात् मतिपूर्वक
या परम्परासे मतिपूर्वक होनेवाले सभी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होते हैं ऐसा विद्वानोंको जानना चाहिए ।

तथा श्रुतके स्वरूप और भेदके विषयमें कहा है---

मतिपूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानके श्रुतज्ञान कहते हैं । वह शब्दजन्य और लिंगजन्य
होता है । उसके अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट दो भेद हैं । अंगबाह्यके अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्टके आरह
भेद हैं ।

श्रुति शब्द श्रु धातुसे बनता है जिसका अर्थ सुनना है । श्रुत ज्ञानरूप भी होता है और शब्दरूप भी
। जिस ज्ञानके होनेपर वक्ता शब्दका उच्चारण करता है वक्तका वह ज्ञान और श्रोतको शब्द सुननेके बाद
होनेवाला ज्ञान भावश्रुत है अर्थात् ज्ञानरूप श्रुत है । और उसमें निमित्त वचन द्रव्यश्रुत है । भावश्रुत या ज्ञानरूप श्रुतका फल अपने विवादोंको दूर करना है अर्थात् अससे ज्ञाता अपने सन्देहादि दूर करता है
इसलिए वह स्वार्थ कहलाता है । और शब्द प्रयोगरूप द्रव्यश्रुतका फल दूसरे श्रोताओके सन्देहोके दूर
करना है इसलिए उसे परार्थ कहते हैं । इस तरह श्रुतज्ञान ही केवल एक ऐसा ज्ञान है जो स्वार्थ भी है
और परार्थ भी है । शेष चारों ज्ञान स्वार्थ ही हैं क्योंकि शब्द प्रयोगके बिना दूसरोका सन्देह दूर नहीं किया
जाता । और शब्द प्रयोग का कारणभूत ज्ञान तथा शब्द प्रयोगसे होनेवाला ज्ञान दोनों श्रुतज्ञान है ॥५॥

आगे श्रुतकेइन दोनों भेदोसे भी भेद कहते है ---

भावश्रुत पर्याय, पर्याय समास आदिके भेदसे बीस प्रकारका है । और द्रव्यश्रुत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यकेभेदसे दो प्रकारका है ॥६॥

विशेषार्थ--- आगममें भावश्रुतकेबीस भेद उस प्रकार कहे है--- पर्याय, पर्यायसमास,

२. अर्थादर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्व श्रुतं भवेत् ।

शाब्दं तल्लिङ्गं चात्र द्येनकव्दिषड्भेदगम् ॥ ()

३. पज्जय--- अक्खर--- पद-- - संघादय--- पडिवत्ति--- जोगदाराइं ।

पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वसमासा य बोधव्वा ॥ --- षट् खं. पु. १२, पृ. ३६०।

सुहमणिगोद अपज्जत्तस्य जातस्य पढमसमयम्हि ।

हवादि हि सब्वजहण्णं णिच्चुघाडं णिरावरणं ॥ (गो.जी.३१९)

तथा---

सूक्ष्मापूर्णानिगोदस्य जातस्याद्यक्षणेऽप्यदं।

श्रुतं स्पर्शमतेर्जातं ज्ञानं लब्धक्षराभिराधम् ॥ ()

तदैवं ज्ञानमनन्तासंख्येय (--- संख्येय---) भागवृद्धया संख्येया (--- संख्येय---) नन्तगुणवृद्धया च वर्धमानासंख्येयलोक--

पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति समास, अनुयोगद्वारा, अनुयोगद्वारर समास, प्राभृत- प्राभृत, प्राभृत- प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभत.समास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्वसमास । ये श्रुतज्ञानकेबीस भेद जानने चाहिए। इनका स्वरूप श्रीधवला टीकाकेआधारपर संद्योपमें दिया जाता है--- सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तकके जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्धक्षर है क्योंकि यह ज्ञान नाशके बिना एक रूपसे अवस्थित रहता है । अथवा केवलज्ञान अक्षर है क्योंकि उसमें हानि--- वृद्धि नहीं होती । द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है इसलिए भी उसे अक्षर कहते है । इसका प्रमाण केवलस्सनका अनन्तवाँ भाग है । यह ज्ञान निरावरण है क्योंकि आगममें कहा है कि अक्षरका अनन्तवाँ भाग नित्य उद्घाटित रहता है । यदि यह भी आवृत हो जाये तो जीवकेअभावका प्रसंग आ जावे । यह लब्ध्याक्षर अक्षर संज्ञावाले केवलज्ञानका अनन्तवाँ भाग है । इसलिए इस लब्ध्याक्षर ज्ञानमे सब जीवराशिका भाग देनेपर ज्ञानके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा सब जीवराशिसे अनन्तगुणा लब्ध आता है । इस प्रक्षेपको पतिराशिभूत लब्ध्याक्षर ज्ञानमें मिलनेपर पर्यायज्ञानका प्रमाण आता है । पुनः पर्यायज्ञानमे सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसी पर्यायज्ञानमें मिला देनेपर पर्याय समास ज्ञान उत्पन्न होता है । आगे छह वृद्धियाँ होती है--- अनन्त भाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि,

संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंयात गुण वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि । इनके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र पर्याय समास ज्ञान स्थान प्राप्त होते हैं । अन्तिम पर्याय समास ज्ञान स्थानमें सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसी में मिलनेपर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है । वह अक्षरज्ञान सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तकके अनन्तानन्त लब्धक्षरोंके बराबर है । अक्षरके तीन भेद हैं--- लब्धक्षर, निर्वृत्यक्षर और संस्थानाक्षर । सूक्ष्मनिगोद लब्धपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली तक जीवोंके जितने क्षयोपशम होते हैं उन सबकी लब्धक्षर संज्ञा है । जीवोंके मुखसे निकले हुए शब्दकी निर्वृत्यक्षर संज्ञा है । संस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापनाक्षर है । घ्यह वह अक्षर हैइस प्रकार अभेदरूपसे बुद्धिमें जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापनाक्षर है । इन तीन अक्षरोंमें यहाँ लब्धक्षरसे प्रयोजक है, शेषसे नहीं, क्योंकि वे जड हैं । जघन्य लब्धक्षर सूक्ष्म निगोद लब्धपर्याप्तकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीकेहोता है । एक अक्षरसे जो जघन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरके ऊपर दूसरे अक्षरकी वृद्धि होनेपर अक्षर समास नसमक श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होने तक अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान होता है । पुनःसंख्यात अक्षरोंको मिलाकर एक पद नामक श्रुतज्ञान होता है । सोलह सौ चौतीस करोड तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोंका एक मध्यम पद होता

परिमाणप्रगक्षरश्रुतज्ञानात्पर्यायसमासोऽभिधीयते । अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाकाराद्यक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञानसंख्येयभागमात्रम् । तस्योपरिष्ठादक्षरसमासोऽक्षरवृद्धया वर्धमानो व्दित्र्यादक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधात् पुरस्तात् । एवं पदपदसमासादयोऽपि भावश्रुतभेदाः पूर्वसमासान्ता विंशतिर्यथागममधिगन्तव्याः।

है । इस मध्यम पद श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरके बढनेपर पद समास नामक श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिसे बढता हुआ पद समास श्रुतज्ञान एक अक्षरसे न्यून संघात श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक जाता है । पुनःइसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है । इस तरह संख्यात पदोंको मिलाकर एक संघात श्रुतज्ञान होता है । यह मार्गणा ज्ञानका अवयवभूत ज्ञान है । पुनःसंघात श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून अतिमार्गणाविषयक ज्ञानके प्राप्त होने तक संघात समास श्रुतज्ञान होता है । पुनः इसपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान है । अनुयोग व्दारके जितने अधिकार होते हैं उनमें-से एक अधिकारकी प्रतिपत्ति संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोंकी प्रतिपत्ति समास संज्ञा है । प्रतिपत्तिके जितने अधिकार होते हैं उनमें-से एक-एक अधिकारकी संघात संज्ञा है और एक अक्षर न्यून सब अधिकारोंकी संघात समास संज्ञा है । इसका सब जगह कथन करना चाहिए । पुनः प्रतिपत्तिश्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून अनुयोगव्दार श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है । पुनः उसमें एक अक्षरकी वृद्धि हानेपर अनुयोगव्दार श्रुतज्ञान होता है । अनुयोगव्दार श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगव्दार समास नामक श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून

प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक अत्रयोगव्दार समास श्रुतज्ञान होता है । पुनः उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है । पुनः इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक प्राभृत प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । पुनःउसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । इस तरह संख्यातप्राभृत प्राभृतोंका एक प्रभृत श्रुतज्ञान होता है । इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । पुनःउसमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु श्रुतज्ञान होता है । इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्व श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है । उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व श्रुतज्ञान होता है। पूर्वगतके जो उत्पाद पूर्व आदि चौदह अधिकार हैं उनकी अलग-अलग पूर्व श्रुतज्ञान संज्ञा है । इस उत्पाद पूर्व श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरोंकी वृद्धि होने तक पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार भावश्रुतके बीस भेद होते हैं ।

अगडप्रविष्टं असचसरादिशभेदं वचनात्मकं द्रव्यश्रुतम् । अगडबाह्य सामायिकादिचतुर्दशभेदं प्रकीर्णकश्रुतम् तत्प्रपञ्जोऽपि प्रवचनाच्चिन्त्यः ॥६॥

अथ श्रुतोपयोगविधिमाह---

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्तः प्रणिधाय च ।

श्रुतं व्यवस्थेत् सव्दिश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः ॥७॥

तीर्थात्-- उपाध्यायात् । आम्नाय -- गृहीतवा । निध्याय--अवलोक्य । युक्त्याइहेतुना सा हि अपक्षपातिनी ।

तदुत्कम्---

छर्त्ते युत्किं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।

यभ्दानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित्^९ [सोम. उपा. १३ श्लो.]

अन्तःप्रणिधय--स्वात्मन्यारोप्य । व्यवस्थेत्--निश्चिनुयात् । सत्--उत्पादव्ययधौव्ययुत्कम् ।

अनेकान्तात्मकं-- द्रव्यपर्यायस्वभावम् श्रुतं खलु अविशदतया समस्तं प्रकाशयेत् । तदुत्कम् --

द्रव्यश्रुतके दो भेद हैं-- अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं --

आचार ,सूत्रकृत,स्थान, समवाय, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश , प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । दृष्टिवादके पाँच भेद हैं -- परिकर्म, सूत्र,प्रथमानुयोग, पुर्वगत और चूलिका । पुर्वगतके चौदह भेद हैं -- उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद , ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्ययख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार । अंगबाह्यके अनेक भेद हैं । वत्काके भेदसे ये भेद जानना चाहिए । वत्का तीन हैं -- सर्वज्ञ तीर्थकर, श्रुतकेवली और आरातीय । भगवान् सर्वज्ञ देवने

केवलज्ञानके द्वारा अर्थरूप आगमका उपदेश दिया । वे प्रत्यक्षदर्शी और वीतराग थे अतः प्रमाण थे । उनके साक्षात् शिष्य गणधर श्रुतकेवलियोने भगवानकी वाणीको स्मरणमे रखकर जो अंग पूर्व ग्रन्थोंकी रचना कि वह भी प्रमाण है । उसकेबाद आरातीय आचार्योंने कालदोषसे अल्पमति अल्पायु शिष्योके कल्याणार्थ जो ग्रन्थ रचे वे अंगबाह्य है । वे भी प्रमाण है क्योंकि अथैरुपसे तो वे भी वही है। क्षीर समुद्रसे जलके घरमें भरनेसे जल तो वही रहता है । उसी तरह जानना॥६॥

श्रुतके उपयोगी विधि कहते है ---

बुद्धिशाली मुमुक्षुको गुरुसे श्रुतके ग्रहण करने तथा युक्तिसे परीक्षण करके और उसे स्वात्मोमे निश्चल रूपसे आरोपित करके बनेकान्तात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायरूप और उत्पादव्यव--- धौव्यात्मक विश्वका निश्चय करनस चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ--- श्रुतज्ञान प्राप्त करनेकी यह विधि है की शास्त्रको गुरुमुखसे सुना जाये या पढा जाये । गुरु अर्थात् शास्त्रज्ञ जिसने स्वयं गुरुमुखसे शास्त्रध्यायन किया हो । गुरुकी सहायताके बिना स्वयं स्वाध्यायपूर्वक प्राप्त किया श्रुतज्ञान कभी- कभी गलत भी हो जाता है । शास्त्रज्ञान प्राप्त करके युक्तिसे उसका परीक्षण भी करना चाहिए । कहा भी है कि इस लोक में जो युक्तिसम्मत है वही परमार्थ सत् है । क्योंकि सूर्यकी किरणोकी समान युक्तिका किसी के भी साथ पक्षपात नहीं है । जैसे सग अनेकान्तात्मक है सत् होनेसे । जो सत् नहीं है वह अनेकान्तात्मक नहीं है जैसे आकाशका फूल । इसके बाद उस श्रुतको अपने अन्तस्तलमें उताराना चाहिए । गुरुमुखसे पढकर और युक्तिसे परीक्षण करके भी यदि उसपर अन्तस्तलसे

श्रुतं केवलबोधश्च विश्वबोधात् समं वदयम् ।

स्यात्परोक्षं श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष केवलं स्फुटम्॥ ()

१२ प्रयोग:--- सर्वमनेकान्तात्मकंसत्त्वात् यन्नेत्थं तन्नेत्थं यथा खपुष्यम् ॥७॥

अथ तीर्थम्नायपूर्वक श्रुतमथ्येस्येदित्युपदिशित---

वृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः।

प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीयते मुहुः॥८॥

१५ सन्मेघैः--- सन्तः शिष्टा भगवज्जिनसेनाचार्यादयः॥८॥

अथ प्रथमानुयोगाभ्यासे नियुक्ते---

९ पुराणं चरित चार्थाख्यानं बोधिसमसधिदम्।

तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथमेत्तराम् ॥९॥

पुराणं --- पुराभवमष्टाभिधेयं त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशासम् । यदार्षम् ---

लोको देशः पुरं राज्यं तीर्थं दानतपोध्वयमा

पुराणस्याष्टधाख्येयं गतयः फलमित्यापि ॥ (महापु. ४/२)

श्रद्धा न हुई तो वह ज्ञान कैसे हितकारी हो सकता है । श्रुतज्ञानका बड़ा महत्त्व है । उसे केवलज्ञानके तुल्य कहा है । समन्तभद्र स्वामीने कहा है--- स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व जीवादि तत्त्वोके प्रकाश है । दोनों में भेद प्रत्यक्षता और परोक्षता है । जो दोनों में से किसीका भी ज्ञानका विषय नहीं है वह वस्तु ही नहीं है॥७॥

तीर्थ और आमनायपूर्वक श्रुतका अभ्यास करनेका उपदेश देते है ----

परमागमरूपी समुद्रसे संग्रह करके भगवज्जिनसेनाचार्य आदि सत्पुरुषरूपी मेघोके द्वारा बरसाये गये प्रथमानुयोग आदि रूप जलको भव्यरूपी चातक बार- बार प्रीतिपूर्वक पान करें॥८॥

विशेषार्थ--- मेघोकेद्वारा समुद्रसे ग्रहीत जल बरसानेपर ही चातक अपनी चिरप्यासको बुझाता है । यहाँ भव्य जीवोको उसी चातककी उपमा दी है क्योंकि चातककी तरह भव्य जीवोंको भी चिरकालसे उपदेशरूपी जल नहीं मिला है। तथा परमागमको समुद्रकी उपमा दी है और परमागमसे उद्धृत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको जलकी उपमा दी है; क्योंकि जैसे जल तृष्णाको --- प्यासको दूर करता है उसी तरह शास्त्रोंसे भी संसारकी तृष्णा दमर होती है । और उन शास्त्रोंकी रचना करनेवाले भगवज्जिनसेनाचार्य आदि आचार्योंकी मेघकी उपमा दी है क्योंकि मेघोंकी तरह वे भी विश्वका उपकार करते है ॥८॥

आगे प्रथमानुयोगके अभ्यासकी प्रेरणा करते है---

हेय और उपादेयरूप तत्त्वको प्रकाशका इच्छुक भव्य जीव बोधि और समाधिको देनेवाले तथा परमार्थ सत् वस्तु स्वरूपका कथन करनेवाले पुराण और चरितरूप प्रथमानुयोगको अन्य तीन अनुयोगोंसे भी अधिक प्रकाशमें लावे अर्थात् उनका विशेष अभ्यास करे ॥९॥

१. स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यस्त्वन्यतमं भवेत् ॥

--- आप्तमी,. १०५।

लोकस्तु---

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशा मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥ (ब्रह्मवैवर्त पु., कृष्ण जन्म खण्ड १३१ अ.)

चरितं--- एकपुरुषाश्रिता कथा। अर्थाख्यानं --- अर्थस्य परमार्थसतो विषयस्य आख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा । बोधिः -- अप्राप्तानां सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिः। प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः। धर्म्यशुक्लध्याने वा तौ दत्ते (तत्) तच्छ्रवणात्तत्प्राप्त्याद्युपपत्तेः। प्रथा--- प्रकाशः । प्रथयेत्तरां --- इतरानु- योगत्रयादतिशयेन प्रकाशयेत् तदर्थप्रयोगष्टान्ताधिकरणत्वात्तस्य ॥९॥

अथ करणानुयोगे प्रणिधत्ते ---

चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित् ।

हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिर्गः॥१०॥

चतुर्गतयः--- नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणाः। युगावर्तः--- उत्सर्पण्यादिकालपरावर्तनम् । लोकः--- लोक्यन्ते जीवादयः षट्पदार्था यत्रासौ त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयमात्ररज्जुपरिमित आकाशावकाशः। ततोऽन्यो अलोको अनन्तानन्तमानावस्थितः शुद्धकाशस्वरूपः। प्रणेयः--- परिचेयः। करणानुयोगः--- लोकायनि- लोक- विभाग- पञ्चसंग्रहादिलक्षणं शास्त्रम्। करणातिर्गः--- जितेन्द्रियैः ॥१०॥

विशेषार्थ--- पूर्वमें हुए तिरेमठ श्लाका पुरुषोंकी कथा जिस शास्त्रमें कही गयी हो उसे पुराण कहते हैं । उसमें आठ बातोंका वर्णन होता है। कहा है--- लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान तथा अन्तरंग और बाह्य तप--- ये आठ बातें पुराणमें कहनी चाहिए तथा गतियों और फलको भी कहना चाहिए ।

ब्रम्हवैवर्त पुराणमें कहा है ---जिसमें सर्ग --- कारणसृष्टि, प्रतिसर्ग --- कार्यसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशोंके चरित हो उसें पुराण कहते हैं । पुराणकेये पाँच लक्षण हैं ।

जिसमें एक पुरुषकी कथा होती है उसे चरित कहते हैं । पुराण और चरित विषयक शास्त्र प्रथमानुयोगमें आते हैं। प्रथम नाम देनेसे ही इसका महत्त्व स्पष्ट है । अन्य अनुयोगोंमें जो सिध्दान्त आचार आदि वर्णित हैं।